मार्च : 1981

आजकल

एक रुपया

Review Copy

हरिवंश राय बच्चन तथा गोविंद मिश्र
से बातचीत

मुमताज मुफ्ती तथा महेशचंद्र जोशी
की कहानियां

तीन इश्कों का शायर : फैज अहमद फैज
—शेरजंग गर्ग

आजकल

आधुनिक साहित्य
एवं
संस्कृति का संवाहक मासिक

वर्ष : 36; अंक : 11 पूर्णांक : 439 मार्च : 1981
(फाल्गुन-चैत्र 1902-1903)

'आजकल' का चंदा : एक प्रति 1 रुपया, वार्षिक 10 रुपए, द्विवार्षिक 18 रुपए तथा त्रिवार्षिक 25 रुपए मात्र। (छात्रों तथा अध्यापकों के लिए चंदे में दस प्रतिशत की विशेष छूट। इसके लिए प्रमाणपत्र भेजना आवश्यक है)। 'आजकल' के नियमित ग्राहकों को, प्रकाशन विभाग की 5 रुपए या अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत छूट दी जाती है।

विदेश में : एक प्रति : 30 सेंट या 15 पेंस; वार्षिक : 3 डालर या 1.50 पौंड; द्विवार्षिक : 5.40 डालर या 2.70 पौंड; त्रिवार्षिक : 7.50 डालर या 3.75 पौंड। **चंदे एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का पता** : व्यापार व्यवस्थापक, पटियाला हाउस, नई दिल्ली। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।

संपादकीय पत्र-व्यवहार : संपादक 'आजकल' (हिंदी), पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 (टेलीफोन : 387069)

लेख

2. हरिवंश राय बच्चन से **विनय की** बातचीत

7. हिंदी में हास्य-व्यंग्य : **रत्न प्रकाश शील**

26. **गोविंद मिश्र** से **विनय दास की** बातचीत

29. हिंदी में आंचलिक उपन्यास : **अमरेंद्र मिश्र**

35. तीन इश्कों का शायर : **फैज़ अहमद फैज़**
: **शेर जंग गर्ग**

39. सार्थकता का चयन बनाम चयन की सार्थकता
: **गोपाल**

43. रामकुमार का रचना संसार : **बलराम**

45. **लाहौल**—एक यात्रा : **रामनाथ पसरीचा**

48. जीवन का ग्रंथ पढ़नेवाली अनपढ़ महिला : **यदुनाथ थते**

51. सती प्रथा : **साधना भटनागर**

53. एशियाई खेल : **अवतार सिंह सेठी**

55. अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह : **विनोद**

कहानियां

13. कोई कोई : **मुमताज मुफ्ती**

32. घायल : **महेश चंद्र जोशी**

कविताएं

धनंजय सिंह, योगेंद्र नाथ शर्मा, 'अरुण', मोहन कुमार डहेरिया, हेमलता आंजनेयलू, मृणालिनी श्रीवास्तव, पेत्र बेज़रुच, श्याम निर्मम, भगवती प्रसाद निदारिया, अरुणा कपूर, अमिताभ सिंह, ऊषा मेहरा, मृदुला अरुण, सुखवीर विश्वकर्मा, सत्यपाल चुघ, धनेंद्र।

तथा समीक्षाएं

संपादक	:	वेदप्रकाश अरोड़ा
सह-संपादक	:	उर्मिला कटारिया
उप-संपादक	:	योगेंद्र दत्त शर्मा
आवरण सज्जा	:	मेघजी परमार

"ठहरो ! एक अनुभव के सामने झुको तो मिलेगा !"

हरिवंश राय बच्चन

से बातचीत

● "आपकी रचनाओं का काव्य-विषय मांसल लगता रहा है। निशा निमंत्रण, मधुशाला आदि रचनाएं अभिधात्मक हैं—मांसल अनुभूतियों की रचनाएं लगती हैं। पर उनमें कभी-कभी आध्यात्मिक अनुभव की प्रतीति भी होती है—तो क्या मांसल या भौतिक एक स्तर पर जाकर आध्यात्मिक हो जाता है ?

मैं मानता हूं कि एक स्तर पर अभिधा भी प्रतीकात्मक हो जाती है। अनुभूति गहन हो तो अभिधा से भी अनेक प्रतीकात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। भाव यदि गंभीर हो तो सामान्य से अलग अर्थ देता है। सरल शब्द भी गहन अर्थों में प्रतीक बन जाते हैं। संस्कृत के बड़े कवियों में ऐसा अनेक स्थलों पर मिलेगा। भाव-प्रवण कवियों में भावना की तीव्रता एक विवशता होकर नहीं आती, वह शक्ति होती है। भावना की तीव्रता में एक सामान्य संवेदना के कई स्तर पार कर जाते हैं। **निशा निमंत्रण** के गीतों में—शायद मैं कविता नहीं लिख रहा था, मैं कुछ 'रिलीज़' कर रहा था। जैसे किसी भावना की जकड़ से अपने आप को मुक्त करना चाहता था। **"दिन जल्दी-जल्दी ढलता है"**, इस कविता में कहीं भी कोई विशेष प्रतीक नहीं है। पर भावना तीव्र है। इसीलिए 'दिन' शब्द ही प्रतीकार्थ हो गया। दिन अवस्था भी है, समय भी। और जल्दी-जल्दी में एक घबराहट है—यह घबराहट एक अभिधा को केवल लक्षणा ही नहीं बनाती, व्यंजना भी बनाती है। कविता में रूपकों की दुनिया अप्रतिम है। रूपक एक प्रकार के तार हैं। रेडियो के मैसेज (संदेश) हैं। इन्हें आप सुनते हैं। यह मैसेज वेव्स (Waves) के द्वारा आता है। कुछ वेव्स चार्ज—यानी विद्युत तरंगे होती हैं। अर्थात् जिस वेव पर मैसेज आ रहा है, यदि आप उस वेव पर हैं तो सुन सकते हैं अन्यथा नहीं। कविता के वेव्स भी ऐसे ही होते हैं। रूपकों और बिंबों में व्यक्ति की सचेतनता ही नहीं होती, उसका अवचेतन और पराचेतन भी होता है। मेरी कविता में भी यह है।

हरिवंश राय बच्चन का नाम हिंदी कविता में—छायावादोत्तर काव्यधारा में—अत्यंत महत्वपूर्ण नाम है। छायावाद के बाद की हिंदी कविता का इतिहास उनके बिना मुकम्मल इतिहास नहीं बन सकता। बच्चन जी की कविता, बच्चन जी का गद्य, दोनों ही अपने रूप में अप्रतिम है। उन्होंने छायावादोत्तर गीत को मंचीय गरिमा ही नहीं दी, एक साहित्यिक गौरव भी दिया। लोकप्रियता और साहित्यिक ऊंचाइयों का ऐसा संयोग बहुत कम कवियों में मिलता है।

बच्चन जी से साक्षात्कार के लिए जब मैंने सबसे पहले कहा तो वे बोले—कि साहित्यिक बातें हो जाएं, यही काफी है—इंटरव्यू की औपचारिकता में बहुत कुछ 'फार्मल' हो जाता है। फिर भी जब मैंने उनसे बात करनी शुरू की तो लगा जैसे एक अनुभव, एक भावना—बोल रही हो। आंखों की पीड़ा के होते हुए भी जैसे कोई भीतरी आंख—अब तक के देखे-लेखे को शब्दों में व्यक्त कर रही हो। तब मुझे याद आया रमानाथ अवस्थी का कहा वाक्य—"बच्चन जी से पहले कुछ मत कहो, एक बात शुरू कर दो, फिर जैसे गंगा अपने आप बहती हुई—सींचती जाती है।" अवस्थी जी ने गलत नहीं कहा था। मुझे लगता रहा कि दर्जनों पुस्तकें पढ़कर मैं वह ज्ञान हासिल नहीं कर पाऊंगा जो इस कवि की वाणी में मुझे मिल रहा है। इसके पूर्व कई बार ऐसा—दिनकर जी से बात करते हुए भी अनुभव होता रहा। दिनकर ही क्यों—पूर्ववर्ती पीढ़ी के किसी भी जेनुइन रचनाकार से बात कीजिए, लगेगा आप एक कोश के सामने सजदा कर रहे हैं—शब्द नहीं, अनुभव तिरकर आपके पास आ रहा है। पर इस सबके लिये श्रद्धा चाहिए—श्रद्धावानं-लंभते ज्ञानम्" और इसी श्रद्धा से मैं बच्चन जी से इंटरव्यू लेने गया था।

प्रस्तुति : विनय

और एक बात है कि वेदना जब गंभीर होती है तब अहं समाप्त हो जाता है—विगलित हो जाता है। या कहना चाहिए वेदना की गंभीरता में ही अहं विगलित होता है। यह स्थिति वियोग में अधिक होती है। ऐसी भावप्रवण रचनाओं के संदर्भ में समालोचक गलती कर देता है पर पाठक नहीं करता। ऐसे स्थलों पर कवि की अनुभूति भी व्यक्तिगत नहीं रहती, वह भावना की तीव्रता से सबकी हो जाती है—

और रही बात आध्यात्मिक होने की—मैं अध्यात्म का क, ख, ग नहीं जानता (सचेतन रूप में)—पर मेरा कवि उसे नहीं छू रहा था—यह मैं नहीं कहता। प्रेम की अनुभूति ही एक स्तर पर जाकर अध्यात्म की अनुभूति हो जाती है।

● तब तो मधुशाला में आध्यात्मिक अनुभूति मानी जा सकती है।

हां, क्योंकि **मधुशाला** के प्रतीकों में मैं अध्यात्म को भी छू रहा था, चेतन स्तर पर नहीं—पर अवचेतन और पराचेतन के स्तर पर। मिट्टी का प्याला—का प्रतीक ही लें। मनुष्य भी तो मिट्टी ही का है। यहां पर शब्द स्थूल है पर अर्थ सूक्ष्म है। और अर्थ केवल शब्द का ही नहीं होता, ध्वनि का भी होता है। बड़े कवियों ने प्रयुक्त ध्वनियों से गंभीर अर्थाभिव्यक्ति की है। तुलसी की ध्वनियां कितना अर्थ देती हैं। निराला के यहां बिंब की विराटता और सूक्ष्म अनुभूति कई बार ध्वनियों के बल पर ही सटीक अर्थाभिव्यक्ति करती है। ध्वनियों से संपृक्त शब्द शिराओं का स्पर्श करता है। इसके लिए कई बार कवि सचेत नहीं होता, पर ऐसा होता है।

"इस पार प्रिय मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा", यह जिज्ञासात्मक अभिव्यक्ति अध्यात्म का स्पर्श करती है। मैं जब कहता हूं कि मैं मधुशाला में हूं या मधुशाला मेरे में है तब मैं भावनाओं की गहराई में डूबता हूं। बहुत कुछ विचार या भाव तो रचना के बाद रचना को पढ़कर दिमाग में आए कि यह भी हो सकता है। हमारे यहां जायसी और मलूकदासकी रचनाओं में ऐसी अनेक पंक्तियां हैं, जिनके गहन अर्थ अध्यात्म की ओर संकेत करते हैं। एक बात और, सुख-दुःख की अनुभूति अपने चरम पर अंतर मिटा देती है। वह एक ही होती है। यह है 'स्व' की विगलित अवस्था, 'सैल्फलैसनैस'। स्त्री-पुरुष के मिलन की चरमावस्था में यही "सैल्फलैसनैस' की स्थिति होती है।

● तो क्या महादेवी की अनुभूति में यह आत्म विगलन ही आध्यात्मिक अनुभव है।

जी हां, महादेवी को मीरा कहा जाता है। पर असल बात यह है कि भावना के अतिरेक में महादेवी आत्मसमर्पण के चरम स्तर को स्पर्श करती हैं। यह चरम ही उनका आध्यात्म है। और यहां एक बात और कहूं—कि संत और कवि में अंतर होता है। संत में 'मौन' सब कुछ होता है। यही उसका आध्यात्म है। वहां शब्द भी जल जाता है। केवल मौन, कोई ध्वनि नहीं। महर्षि रमण संत हैं, रवींद्रनाथ कवि हैं। रमण जहां पहुंचते हैं वहां जानबूझ कर रवींद्र नहीं पहुंचते। रमण अभिव्यक्ति से आध्यात्मिकता के मौन तक जाते हैं। रवींद्र अभिव्यक्ति तक ही रुकते हैं। अध्यात्मिकता के दो स्तर हैं—पहला अभिव्यक्ति, दूसरा मौन! कवि अभिव्यक्ति करता है, संत अभिव्यक्ति में भी मौन रहता है। बड़ा कवि शब्द के माध्यम से अचेतन के सत्य को छूता है। संत मौन से।

● इसका अर्थ यह हुआ कि आज की कविता में आध्यात्मिक अनुभूति का कोई स्थान नहीं, क्योंकि उसमें मन कम मस्तिष्क अधिक बोलता है।

आज की कविता अभिव्यक्ति के तमाम स्वरों को सचेत होकर छूती है। वह सचेत ज्यादा है। सचेतता के कारण ही उसमें वह ध्वनि कम है, जिससे यह लगे कि वह किसी सत्य की बात कर रहा है।

● अर्थात् वह सत्य की बात कम यथार्थ की बात ज्यादा करता है।

हो सकता है यही हो। पर, मुझे लगता है कि वह (आज का कवि) अवचेतन से पराचेतन—यानि की चौथा स्तर 'फोर्थडाइमेन्शन' को नहीं पकड़ रहा। शब्द में एक किरण होती है, उसकी अभिव्यक्ति 'फोर्थ डाइमेन्शन' में है। आज के कवियों में **अज्ञेय** में यह भाव है। उनमें छायावादी भावना भी है। यह उनकी शक्ति है। बाकी कवियों में मुझे कम दिखाई देतीं है।

● इसका कारण बता सकते हैं ?

मुझे लगता है कि आज देश के सामने कोई आदर्श नहीं। वह जैसे बस चल रहा है विभिन्न स्थितियों से जूझता हुआ। चारों तरफ असंतोष है। असंतोष से गंभीर कविता की नहीं, व्यंग्य की उपज होती है। वह है हमारे यहां। लेकिन हमारे यहां व्यंग्य की कोई परंपरा नहीं। इसके बनने में समय लगेगा।

● बात व्यंग्य पर आ गई तो क्या आप व्यंग्य को एक पद्धति मानते हैं या विधा!

व्यंग्य अभी तक पद्धति ही है हमारे यहां। विधा नहीं बन पाई। विदेशों में यह विधा के रूप में विकसित हो गई। 18 वीं शती के पोप, ड्राइडन के सैटायर का महत्व है। इससे भाषा का परिष्कार हुआ। व्यंग्य में काटने वाली भाषा होती है। रामनारायण उपाध्याय, जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी में व्यंग्य साफ-सुथरा है। कवि-सम्मेलनी कवियों का व्यंग्य कहीं-कहीं ठीक है, शेष सामान्य से नीचे स्तर का है।

● समकालीन कविता के विषय में आप क्या सोचते हैं ? कविता किधर जा रही है, आपके विचार में।

बहुत से कारण हैं, जिनसे कविता का भविष्य कुछ-कुछ धुंधला दिखाई देता है। गीतात्मकता को छोड़ने से (गीत नहीं) कविता का कुछ बिगड़ा ही है, बना नहीं। सामाजिक हलचल

हमेशा नहीं रहनी—अतः सिर्फ उस पर की गई कविता भी स्थायी नहीं होती। उदाहरण के लिए, फ्रांस की कविता हमारे सामने है। हमने शायद आज संरचनात्मक विधान की निरंतरता खो दी है। मैथ्यू आर्नल्ड में एक संरचनात्मक निरंतरता है लेकिन रूपक की कमी है। अंग्रेजी में भी सोंग लिरिक की परंपरा समाप्त हो गई। मैं समझता हूं, जब कुछ नहीं रहता, समाज के सामने कोई आदर्श नहीं होता, तब कविता को और भी कलात्मक होना चाहिए। परिपक्व होना चाहिए। मुक्त छंद के साथ यह भाव जैसे खत्म हो गया।

● तो क्या गद्य ने कविता को हानि पहुंचाई।

पूरी तरह से तो नहीं। पर मैं मानता हूं कि गद्यात्मक होने में एक आंतरिक पारदर्शिता समाप्त हो जाती है। जो लिख दिया, लिख दिया, उसमें रिफ्लैक्शन की शक्ति नहीं है। सही कविता शायद वही होती है जो शब्दार्थ से बच रहता है वह उसमें रिफ्लैक्ट करता है।

● जरा और स्पष्ट करें

मतलब यह कि पंक्तियो के बीच एक 'पोयटिक प्रोसेस' होता है। उसके भीतर की स्थिति कविता है। यानि की आंतरिकता से संपृक्ति—(जिसे पोइटिक इनसाइड कहते हैं, काव्यानुभव से कन्सर्न रखने वाली भावना)। वह आज कई कवियों में है—भारती, सर्वेश्वर, रामदरश आदि वस्तुतः कविता जीवन के गहरे अर्थ की अभिव्यक्ति की कला है। यह अर्थ कविता को कठिन बनाने से या सीधी अभिव्यक्ति से नहीं आता। उसमें प्रेम की तरलता, समर्पण और सीधापन चाहिए।

● आप प्रेम के कवि रहे हैं। 'दो चट्टानें' में आपने रूप और भाव दोनों में परिवर्तन किया है। तो क्या यह परिवर्तन आंतरिक चिंतन में परिवर्तन का द्योतक था या बाहरी शिल्प से प्रभावित होकर किया गया।

देखो विनय, मेरा ध्येय शिल्प पर कभी नहीं रहा। कविता के साथ प्रारंभ में व्यक्तिगत संवेदना या कहना चाहिए व्यक्तिगत संवेग गहराई से छूते हैं—उनकी अभिव्यक्ति होती है, बाद में वे संवेदनाएं प्रेरणा नहीं रहतीं। कइयों के साथ ऐसा होता भी है—जैसे अंचल। एक ही जगह पांव पटक रहे हैं। प्रेम या आकर्षण दिव्यत्व और प्रार्थना में बदलता है। व्यक्तिगत प्रेम होता है—फिर आसक्ति-प्रार्थना और यही बढ़कर गहरा भक्ति भाव हो जाता है। तब कुछ भी व्यक्तिगत नहीं रहता, वस्तुगत हो जाता है।

● अर्थात् अनुभूति के समय जो व्यक्तिगत रहता है, अभिव्यक्ति में आकर वस्तुगत हो जाता है?

बहुत कुछ—शैली, कीट्स, बायरन युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। उनकी अभिव्यक्ति केवल व्यक्तिगत नहीं लगती। रवींद्र ने भी अनुभूति को रहस्यात्मक रूप में व्यक्त किया। शैली, कीट्स, बायरन की संगीतात्मकता, रवींद्र की रहस्यमयता सब कुछ आंतरिक ही थी। उन्होंने जहां भी फार्म बदला, जो भी फार्म बदला वह आंतरिकता का ही परिणाम था! और तुमने जो परिवर्तन की बात पूछी—तो यह परिवर्तन **'बुद्ध और नाच घर'** से शुरू होता है। इस रचना में पहली बार बाहर के यथार्थ के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया अभिव्यक्त होती है। कुछ कवि अंतर्मुखी और कुछ बहिर्मुखी होते हैं। बहिर्मुखी कवि की प्रतिक्रिया बाहरी स्थितियों के प्रति उतनी ही तीव्र होती है—**दिनकर** मूलतः बहिर्मुखी कवि थे। अतः युद्ध आदि स्थितियों के प्रति उनकी संवेदना तीव्रतम होकर व्यक्त हुई। मैं बहिर्मुखी नहीं हो सका। इसीलिए जब मेरा 'लिरिकलमूड' समाप्त हुआ तो मैं लोक जीवन की ओर मुड़ गया। यहां गीत को फिर से स्थिर करने की भावना प्रबल थी।

● कुछ बाहरी कारण भी तो हो सकते हैं, जिनकी वजह से आपने लोक धुनों पर कविताएं लिखीं।

कोई विशेष नहीं। पर पं० जवाहर लाल यह जरूर चाहते थे कि कवि लोक जीवन के निकट हो। उससे सिर्फ सहानुभूति ही नहीं करे—उसकी तरफ आकर्षित हो, उसमें उसकी भागीदारी हो। लोक जीवन की स्वाभाविकता को हम ईर्ष्या से देखें। हम जितने कृत्रिम होते जा रहे हैं, वे उतने ही सहज सरल। लोक जीवन में शक्ति है, सरलता है, यही बातें मुझे आकर्षित कर सकीं। और मैंने सोचा कि महानगरीय सभ्यता के दायरे से बाहर कविता को सुगंध मिल सके। इसके पहले हिंदी, अंग्रेजी में ऐसे कई प्रयास हो चुके थे। 'परसी' ने फोक सांग का एक संकलन निकाला था जिसका प्रभाव रोमांटिक आंदोलन पर पड़ा। वर्डसवर्थ का रेनबो, लूसी, लोक भावना से प्रेरित थे। 1924-25 के लगभग रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम जीवन संबंधी गीतों का एक संग्रह निकाला था। 'ग्राम्या' बाद में निकली।

● पर इन गीतों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा।

हां, यही उनकी सीमा मानी जा सकती है। पंत जी के ग्राम गीतों ने अधिक प्रभावित नहीं किया। वे एक कलात्मक अभिजात्य से ग्रस्त रहे।

● आप 'दो चट्टानें' को नई कविता की मानसिकता से जुड़ा मानते हैं?

'दो चट्टाने' की मानसिकता, नई कविता से अलग है। और वह वस्तु जगत की सामूहिक प्रतिक्रिया से भी अलग है। वह मेरे बहिर्मुखी होने की प्रतीक है। उसमें भावना की तीव्रता के स्थान पर संवेदना की गहराई है। जहां 'औब्जरवेशन' करते-करते कवि 'इन्वाल्वमेंट' भी अनुभव करता है।

● यहां एक बात और पूछूं, क्योंकि बात बहिर्मुखता की हो रही है। क्या आप राजनीतिक-सामाजिक चेतना को कविता के लिए अनिवार्य मानते हैं या बाहरी हस्तक्षेप को।

सामाजिक-राजनीतिक चेतना जीवन का अंग है, कविता जीवन की अभिव्यक्ति है, अतः अनिवार्य हो या न हो, एक दूसरे को प्रभावित तो करते ही हैं। कंसर्न तो है ही। मैं कभी

यात्रांत

धनंजयसिंह

सारे जंगल का
विस्तार सामने था
और
हर एक फूल और फल को
अपनी झोली में भर लेने की
ललक
पर अपनी
रंगों गंधों और
तिक्त-मधुर स्वादों की
पहचान का क्या करूं ?
तुम्हें
जंगली जानवरों का
भय था
और मैं
किसी फलदार घने ऊंचे
वृक्ष की डाल पर
मचान बांधकर
कुछ रातें बिताना चाहता था
ताकि
शहर की गलियों में
भौंकते हुए कुत्तों का डर
कुछ तो कम हो
तुमने मुझे
ठहरने नहीं दिया
किसी वृक्ष की छाया में
और मैं
चुन नहीं सका कोई फूल या फल
जंगल का
अंतिम छोर है
सर्दी की शाम में
रजाई में घुसते हुए
सूरज की थकान मेरे कंधों पर है
और मैं
बबूल के सारे कांटों से
अलाव दहकाने में लगा हूं।

राजनीति के प्रति सचेत नहीं रहा, पर अप्रभावित भी नहीं। 'एकांत संगीत' की अनेक रचनाएं प्रेरक भी हैं। प्रेरक रचनाएं बहिर्मुखी सोच और 'डिटरमिनेशन'से होती है।...**'उर्वशी** को भी में बहिर्मुखी रचना मानता हूं। दिनकर को साहित्य अकदमी पुरस्कार कविता पर नहीं, गद्य पर मिला था। तब से उनके मन में था कि पद्य पर कोई पुरस्कार लूंगा...उर्वशी की संवेदना व्यक्तिगत नहीं। उसमें कला का आलोक इतना अधिक है, भावना की इतनी गहराइयां हैं कि पाठक आतंकित होता है, शायद प्रभावित कम ! **उर्वशी** स्फुरण का काव्य नहीं, 'डिटरमिनेशन' का काव्य है। वह जीवन से कम जीवन के दर्शन से अधिक उद्‌भूत है।

● रचनाकार और भोक्ता व्यक्ति के अंतर को आप किस प्रकार व्याख्यायित करना चाहेंगे।

यह प्रश्न वर्ड्सवर्थ से प्रमुख हुआ। इलियट ने इसे दूसरे रूप में कहा। उसके अनुसार भोक्ता और रचनाकार में अंतर है। वर्डसवर्थ ने कहा था कि भावना में जीने के बाद ही शब्दों में जीने का समय आता है। भावना में जीते क्षणों में कविता नहो होती, उन जीते हुए क्षणों की स्मृति की संवेदनात्मक पकड़ में कविता होती है। जब व्यक्ति का एक वाङ्मय शरीर बन जाता है, तब दोनों साथ-साथ भी होते हैं। यह समस्या उपनिषद् काल से हैं। 'द्वासुपर्णा' की अनुभूति यही है। 'स्वर्णधूलि' में पंत ने भोक्ता दृष्टि के साथ-साथ होने की आकांक्षा व्यक्त की है। कभी-कभी मुक्त स्थिति इतनी तीव्र होती है कि शब्द उसके लिए विश्राम 'रिलीफ' हो जाता है। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि एक भाव आता है, कुछ रफ। यदि उस समय न लिख लें तो फिर बाद में पकड़ में नहीं आता। मैं समझता हूं कि भावनाओं की भी जाति होती है। कुछ क्षणिक होती हैं, कुछ स्थायी—कुछ तीव्र होती हैं, कुछ सामान्य। इनमें एक विशेष प्रकार के निर्णय के क्षण के बीच गुजरता है लेखक। वह निर्णण का क्षण ही सृजन का क्षण होता है। वेदना की गहराई ही शब्दों के माध्यम से बाहर आती है। अतः भाव को भोगने वाला व्यक्ति भाव की अभिव्यक्ति करने वाले कलाकार से भिन्न होता है। अलग रूप में नहीं, अपने होने की अलग स्थिति के रूप में।

● आपने 'जाल समेटा' में कविता न लिखने का निर्णय लिया था। क्या यह निर्णय उचित था, क्या अब कविता लिखने का मन नहीं करता।

बस अब कविता नहीं लिखता। एक बात थी कि मैं कविता पर हावी हूं, कविता मुझ पर नहीं। मैं कविता के वश में नहीं हूं। एक ऐसी स्थिति आती है जब जीवन ही कविता बन जाता है। जो कहना था कह दिया, लिख दिया। कुछ ऐसी ही अनुभूति थी जब यह सोचा कि अब कविता नहीं लिखूंगा।....इसके साथ एक बाहरी बात भी थी। अपने और पंतजी के संबंधों को लेकर मेरा भ्रम टूटा। आखिर, यदि हम सही मनुष्य नहीं बन पाते,

नहीं रह पाते, तो कविता की भी क्या सार्थकता है ? कविता या कोई भी कला मनुष्य को सही मनुष्य बनाने का प्रयास भी तो है। और यदि रचनाकार स्वयं में एक पूरा सही मनुष्य नहीं होगा, तो वह औरों को क्या देगा। हमारे यहां इसीलिए किसी भी क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए खुद बड़ा या सही होना अधिक आवश्यक माना गया है।

● पंत जी के साथ आपका क्या भ्रम टूटा।

मैंने पंतजी के दो सौ पत्र प्रकाशित कराए। वे पत्र केवल व्यक्तिगत संपत्ति नहीं थे, साहित्यिक संपत्ति थे अतः प्रकाशित करा दिए। मेरा कोई मोटिव नहीं था। पर पंतजी ने उन पत्रों को लेकर मुझ पर केस कर दिया। मुझे लगा जैसे उनका मनुष्य आहत हुआ है। पर वे मुझ से बात कर सकते थे। केस की अमानवीयता की क्या जरूरत थी ? और भी केस में लिखने के लिए मेरे पिता के नाम के स्थान पर लिखा 'फादर्स नेम नाट नोन'। यह भी वे मुझ से पूछ सकते थे। उन्होंने केस के जो कारण दिए, उनमें एक कारण था-आर्थिक लाभ। मेरे वरिष्ठ मित्र बंधु ने मुझे इतना गलत समझ लिया। मुझे इस रूप में देखा। उन दिनों यह अनुभूति अत्यंत प्रबल होकर मेरे मन पर छाई थी। अतः कुछ कविताएं भी लिखीं। वे **जाल समेटा** में है। पर में कविता को ऐसी अनुभूतियों के लिए नहीं समझता, कविता व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे हैं। परे रहनी चाहिए। बात यह है कि कवि या कोई भी कलाकार जिस समय अपने जीवन के जिस संवेदनात्मक अंश को गहराई से जी रहा हो, वह उसके अतिरिक्त और कुछ लिख भी नहीं सकता। वह वही लिखेगा। उस समय जीवन की सारी स्थितियां उसी बिंदु से व्याख्यायित होंगी। आप प्रेम जी रहे हैं तो प्रेम लिखेंगे। घृणा जी रहे हैं तो घृणा। यही रचनात्मक प्रामाणिकता भी है। तो उन दिनों इस बात को लेकर मैं ज्यादा 'बिटर' नहीं होना चाहता था। अतः कविता छोड़ दी। बस यही कुछ कारण थे। पर अभिव्यक्ति करता रहा, गद्य लिखकर, बोलकर।—

● लेकिन जब आप एक घटना से इतना सोच सकते हैं, तो क्या यह माना जाए कि आज मूल्यों के क्षरण में कविता की सार्थकता नहीं है।

नहीं, सार्थकता है। मेरे अपने कारण हो सकते हैं। पर मैंने अपने युग के मूल्य स्तर पर कविता लिखी—वह सार्थक है या नहीं पाठक जाने। पर यह तो निश्चित है कि आज मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रह गया। आदमी पहले से अधिक स्वार्थी हो रहा है। ऐसे में आज का कवि स्थितियों से टकरा रहा है, वह मूल्यहीनता की बात करता है, पर उसके मन में भी मूल्यों की ललक है। कौन है जो मूल्यवत्ता से भरा जीवन नहीं जीना चाहता। —मैंने इसलिए भी कविता छोड़ी कि उसी फार्म में खुद को 'रिपीट' न करूं और कोई दूसरा फार्म आज के युग के तनाव के लिए मैं चुन नहीं सकता था। काव्यानुभव में एक अनुभव से दूसरे तक जाने पर शिल्प भी बदलता है। मैं आज के अनुभव के साथ सही टकराहट नहीं अनुभव कर सकता। यह मैं नहीं चाहता था। अतः मैं समझता हूं वह निर्णय ठीक था।

● बंबई में आपको कैसा लगता है ?

बंबई में ठीक है। बच्चों के बीच हूं। तिहत्तर पार हो गया है, वैसे भी आराम चाहिए। यहां अमिताभ का वृक्ष है, उसके नीचे बच्चन को थोड़ा चुप ही रहना चाहिए। और मैं भी अब ज्यादा परिश्रम नहीं कर सकता। बस पिछले दिनों आत्मचरित ही लिखा है। 'बसरे से दूर' दिल्ली में दो वर्ष में लिखा और अब मैं समझता हूं कि मैं विस्तृत हो गया हूं।...भाई बहुत कुछ अन लिखा भी रहना चाहिए, आदमी सब कुछ लिख भी तो नहीं सकता—और देखो अब ज्यादा मत बुलवाओ। बहुत कुछ अबोला भी तो रहना चाहिए। ···

आवश्यकतानुसार

—गणेश पांडेय

अब दुष्यंत मृगया नहीं करते/अरण्य नहीं जाते।
घेर लेती है शकुंतला जन संकुल नगर में आवश्यकतानुसार।
अब दुष्यंत वंश वृक्ष से नहीं फुटपाथ से उगते हैं।
पहचान का खतरा और तेज हुआ, शकुन्तला ही
सशर्त परिचय पत्र जड़ी अंगूठी देने लगी है दुष्यंत को।
स्टेटस विलोम हुआ चरित्र भी बदला है आवश्यकतानुसार।

हिंदी में हास्य-व्यंग्य 1980

एक झलक

रत्न प्रकाश शील

बुजुर्ग कहते हैं, जो काम महंगी दवा न करे, मीठी बोली कर देती है। साहित्यकार कहते हैं, जो काम धुआंधार लेख न करें, मीठी चाशनी में लिपटा हास्य-व्यंग्य पलक झपकते कर डालता है। इसी की मार खाकर विश्वामित्र ने डकैती छोड़ी, कैकई ने मंथरा छोड़ी और दुर्योधन ने महाभारत छोड़ी नहीं, छेड़ी।

सन् 1980 जब तक जिया, ऐसी ही बम-पटाख करता रहा। यहां तक कि वह इस दुनिया को छोड़ कर चला गया। दूसरों से क्या-क्या छुड़वाया, इसे नापने का पैमाना न आपके पास, न हमारे पास। फिर भी साहित्य जगत में सारे वर्ष फुलझड़ियां छुटती रहीं—यह कहा (या लिखा) जा सकता है।

प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार ने इस वर्ष कई करारी पुस्तकें छापीं। श्री नारायण चतुर्वेदी साहित्यिक चुटकुले 'हास्य-व्यंग्य की भवानी' लेकर मैदान में कूदे। उनके जौहर की एक बानगी देखिए जो जीवन्तता का उदाहरण है।

संपादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर सन् 1917 ई० में 'हिंदी पत्रों का इतिहास' लिखना प्रारंभ किया था, जो उनकी विषम परिस्थितियों के कारण पूर्ण न हो सका। इसमें हिंदी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के सौजन्य से इसकी हस्तलिखित प्रति मुझे देखने को मिली। पाठकों के लिए इससे एक मनोरंजक प्रसंग प्रस्तुत है—

जिस समय गवर्नमेंट ने शिक्षा कमीशन नियत किया था, उस समय कमीशन के सभापति डाक्टर हंटर के अविचार से हिंदी को सरकार में आदर प्राप्त न हुआ, परन्तु जब श्रीमान सर मैकडानल साहब संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर नियुक्त होकर आए, तब उन्होंने हिंदी भाषा और नागराक्षरों के अपूर्व गुणों पर ध्यान देकर आज्ञा दी कि इस प्रांत की अदालतों के समस्त कागजात हिंदी और उर्दू दोनों में छपकर प्रकाशित हुआ करें। तदनुसार अदालती कागज पत्र दोनों प्रकार की लिपियों में प्रकाशित होने लगे। परंतु अदालत के मुहर्रिर, नाजिर और वकीलों को बहुत काल से उर्दू लिखने का अभ्यास पड़ा था। उन्होंने इस आज्ञा का दुरुपयोग किया। हिंदी में खानापूरी न करके केवल उर्दू में खानापूरी करके समन आदि भेजने लगे। इस दुर्दशा और हठ को देखकर उक्त छोटे लाट साहब ने आज्ञा दी कि जो मनुष्य हिंदी न जानता हो, उसे सरकारी अदालतों में कोई नौकरी न दी जाए। इस आज्ञा से संयुक्त प्रांत के निवासी हिंदी पढ़ने लगे और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से नागरी लिपि की अर्जियां भी अदालत में स्वीकृत होने लगीं।

इधर तो इस प्रकार से हिंदी का कुछ भाग्योदय हुआ, उधर संयुक्त प्रांत के सीमावर्ती बिहार प्रांत में भी उर्दू लिपि का एकछत्र राज्य वर्तमान था। यद्यपि उस समय बिहार प्रांत बंगाल में मिश्रित था, तो भी बंगाल के समान कोई प्रांतीय लिपि प्रचलित न थी। एक बार वहां के छोटे लाट सर रिचर्ड्स टाम्सन बिहार में दौरा करने आए। उन्होंने मुकामा घाट के प्रबंधकर्ता को उर्दू के हुक्मनामे में लिख भेजा कि जल्से का सामान ठीक रखा जाए और मौके पर किश्तियां तैयार रहें। पढ़ने वालों ने पढ़ा कि 'मौके पर कस्बियां तैयार रहें।' बस, इसके अनुसार प्रबंधकर्ताओं ने घाट पर रंडियों को बुलाकर महफिल तैयार कर ली। जब लाट साहेब घाट पर पहुंचे, तब देखा कि घाट पर एक भी किश्ती नहीं है और-जहां तहां नाच हो रहे हैं। लाट साहब इस कुप्रबंध को देख कर बड़े रुष्ट हुए। परन्तु सरिस्तेदार ने हाथ जोड़कर कहा कि हुजूर, उर्दू में 'कश्ती और कस्बी' एक ही प्रकार से लिखी जाती हैं। इस कारण प्रबंधकर्ता का दोष नहीं, उर्दू लिपि का दोष है। लाट साहब ने उसी समय आज्ञा दी कि सरकारी दफ्तरों से उर्दू को निकाल दिया जाए और उसके स्थान पर हिंदी अक्षर प्रचलित किए जाएं। इसके अनुसार बिहार में कैथी लिपि का प्रचार किया गया...

इसमें तीर एक है, मगर शिकार कितने हैं—यह गिनती आप के जिम्मे है। ऐसे ऐसे अनगिनत 'जान लेवा अंदाज' हैं कि कभी कलेजा मुंह को आता है और कभी मुंह फटने से कलेजे को दबा कर रह जाना पड़ता है।

दूसरी पुस्तक 'बख्शीशनामा' के लेखक रामनारायण उपा-

आत्महंता

—योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'

अपने आदर्शों की निर्मम हत्या,
सबकी तरह देखी है मैंने भी,
आज स्वयं अपनी आंखों से,
मैं नहीं पीना चाहता था, प्रवंचना का विष,
जो बलात् पीना पड़ा मुझे,
किंतु—
विष पीकर मैं 'शिव' नहीं बन सका,
आत्महंता बन गया हूं।
स्वयं उठा नहीं पा रहा हूं मैं—
अपने मुर्दा आदर्शों की अर्थी,
और—
कर रहा हूं प्रतीक्षा रोशनी होने की।
तब शायद मिल जाए मुझे कोई साथी—
और मैं कहीं दूर फेंक कर आ सकूं,
दुर्गंध बिखेरते मुर्दा आदर्शों को;
क्योंकि यह दुर्गंध अब,
असह्य हो गई है।
रात बीतती जा रही है तेजी से;
क्या सचमुच कोई आएगा
मेरे मुर्दा आदर्शों को अर्थी उठवाने?
शायद नहीं आएगा ? क्योंकि—
सभी कर रहे हैं प्रतीक्षा मेरी ही तरह

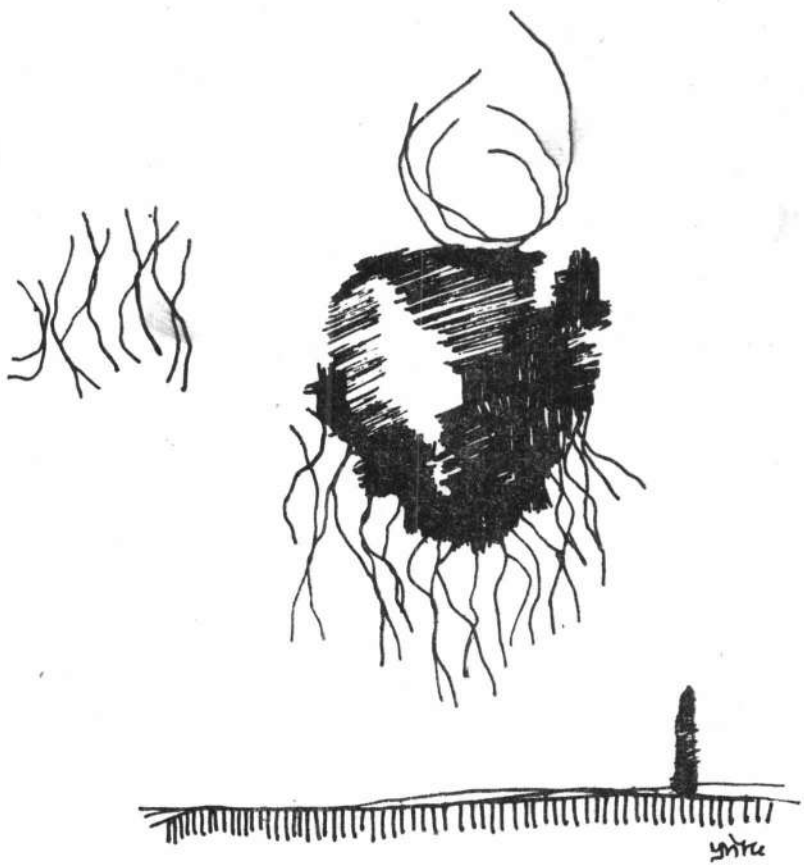

किसी न किसी दूसरे की;
सभी के आदर्श मुर्दा हैं,
और सभी से उठ रही है दुर्गंध !

ध्याय तो शुरू में ही उट्ठक-बैठक करते हैं। 'दो शब्द' वाले पृष्ठ पर उनकी चार पंक्तियां छपी हैं। **'हे प्रभु, सच को सच कहना तो बड़ा कठिन है। झूठ को सच नहीं कहना पड़े इतनी शक्ति दे।'**

'बक्शीशनामा' के 'सेवा समारोह' में फोटो खिचाव आंदोलन के बीच भद्र पुरुषों द्वारा गरीबों पर सेवा के ढोल लादे गए। अंत में फटे-पुराने कपड़ों से झांकते छात्रों को ग्रुप फोटो के लिए बुलाया गया। **घोषणा हुई कि वे बराबर के कमरे में जाकर ड्रेस बदल आएं। एक लड़का रोने लगा तो उससे किसी पत्रकार ने कारण पूछा।**

'दादाजी, मेरे पास एक ही कमीज और पैंट है। मैं अंदर जाकर कपड़े कैसे बदल सकता हूं।' उत्तर मिला।

उसकी बात सुनकर मुझे ऐसे लगा जैसे उस बालक ने हम सबको नंगा कर दिया हो।

सच तो यह है कि 'हम सब' के लिए प्रयुक्त 'नंगा' विशेषण में 'आ' की मात्रा कब लग गई, कुछ पता नहीं। पिछले वर्ष की शवयात्रा तक यह मात्रा इस विशेषण में यकीनन नहीं थी। और इब्ने इंशा की 'उर्दू की आखिरी किताब' ने आखिर तब वह चोट पर चोट की, कि हमारे एक पड़ौसी पानी पीते पीते इस जोर से हंसे कि बेचारा पानी नाक के जरिए दिमाग तक जा चढ़ा। हमने इब्ने इंशा की जगह कहा, "इंशा अल्लाह।" आप भी थोड़ा जायका बदलिए—

इल्म बड़ी दौलत है तू भी स्कूल खोल—इल्म पढ़ा
फीस लगा दौलत कमा। फीस ही फीस। पढ़ाई के बीस
बस के तीस। यूनीफार्म के चालीस। खेलों के अलग
वयैराइटी प्रोग्रामों के अलग। पिकनिक के अलग
लोगों के चीखने की चिंता न कर
दौलत कमा। उससे और स्कूल खोल। उससे और दौलत कमा

किताब का एफ दूसरा अध्याय और पढ़िए। शायद कुछ पल्ले पड़े—

'भूगोल में सब से पहले यह बताया जाता है कि पृथ्वी गोल है। एक जमाने में बेशक यह चपटी होती थी। फिर गोल घोषित की गई। गोल होने का फायदा यह हैं कि लोग पूर्व की तरफ से जाते हैं, पश्चिम की तरफ जा निकलते हैं। कोई उनको पकड़ नहीं सकता। स्मगलरों, अपराधियों और राजनीतिज्ञों के लिए बड़ी आसानी हो गई।... शुरू में दुनिया में थोड़े ही देश थे। लोग शांतिपूर्वक जिंदगी बिताते थे। पंद्रहवी सदी में 'कोलबंस' ने अमेरिका खोजा। उसके बारे में दो धारणाएं हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उसका कसूर नहीं, वह हिंदुस्तान को यानी हमें खोजना चाहता था। गलती से अमेरिका को खोज बैठा। इस धारणा को इस बात से बल मिलता है कि हम अभी तक लापता हैं।

दूसरा पक्ष कहता है कि नहीं, कोलबंस ने जानबूझकर यह हरकत की, यानी अमेरिका को खोजा। बहरहाल, अगर यह गलती थी, तो बहुत संगीन गलती थी। कोलबंस मर गया, उसका दंड हम लोग भुगत रहे हैं।

रोशनलाल सुरीरवाला की 'गित्तलें' नाम है तो अटपटा सा, मगर पढ़ें तो चटपटा ही चटपटा—छोटे छोटे सारगर्भित मटकों में भरा लाल मिर्चो का मुरब्बा—

घड़ों ने सामूहिक साधना प्रारंभ की। तपस्या से प्रसन्न हो शिव यथासमय प्रकट हुए —"क्या चाहते हो ?"

घड़ों के अध्यक्ष ने निवेदन किया, "भगवान, जब लोग किसी मुर्दे को डुबाना चाहते हैं, तो हमें बांसों से बांध कर अर्थी को नदी में प्रवाहित कर देते हैं। धीरे-धीरे हम में पानी भर जाता हैं और हम मुर्दे को ले डूबते हैं। भगवन, हमें अपने काम से कोई शिकायत नहीं है, किंतु मुर्दे को डुबाने में न कोई मजा है न तारीफ। हमें यह वरदान दीजिए कि जिसे हम गहरे डुबोएं, वह अच्छा खासा जीवित और उच्चपदस्थ व्यक्ति हो।"

"तथास्तु।" और शिव अंतर्धान हो गए।

उन सभी घड़ों ने चमचा-योनि में जन्म लिया।

इन पुस्तकों के नयनाभिराम रूप को देख हमें द्रोपदी के उस सुंदर अक्षय पात्र की याद आती है, जो अपने छोटे से स्वरूप में अक्षय-रस समेटे था और दुर्वासा जैसे जटिल व्यक्तित्व भी उसके सम्मुख नत हो गए थे।

राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, ने पिछले वर्ष 'पिछले दिनों' दिया, शरद जोशी की मार्फत। जोशी जी ने सत्ताइस शर संधान किए जो एक एक-कर किसी न किसी कलेजे को अवश्य ही बेध गए होंगे।

पुस्तक बेशक छोटी-सी ही है, मगर है बड़ी खोटी। वह सब बातें हमें बता गई, जिनकी अब 1980 के बाद हमें जरूरत पड़ेगी। यूं और भी बहुत कुछ है इसमें। अच्छी खासी शल्य-क्रिया की है जोशी जी ने बेचारे अस्सी की।

राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, से भी शरद जोशी की पुस्तक 'दो व्यंग्य नाटक' ने जन्म लिया। पहला है 'अंधों का हाथी, और दूसरा है 'एक था गधा उर्फ अलादाद खां'। क्या खूब नाम चुनकर रखे हैं। दोनों ही वर्तमान वास्तविकता में हास्य-व्यंग्य के द्योतक हैं। एक गधा है अलादाद, जो मर गया। धोबी बेचारा इसलिए रोता फिरता है कि उसके काम का सहारा अल्ला मियां ने उठा लिया। दूसरे हैं रियासत के नवाब साहेब जो रातोंरात उल्लू के पट्ठों याने रियाया में नाम पाना चाहते हैं। चपरकनातियों की फौज है, जो अपने आला दिमाग का इस्तेमाल अलादाद को, जो एक गधा था, रियाया के एक गरीब आदमी का दर्जा देने में करते हैं और नवाब साहेब गरीबों की हमदर्दी लूटने के लिए उसे राष्ट्रीय पुरुष का सम्मान देने पर तुल जाते हैं।

नवाब के शब्दों में—"हमारे वालिद कहा करते थे कि हुकूमत का पहला असूल यह है कि आम आदमी को बेवकूफ बनाए रखो।"

अलादाद की यादगार को स्थायी बनाने के लिए नवाब साहेब फरमाते हैं—

'अलादाद की यादगार को पक्की करने के लिए हम जल्दी ही कमेटी का एलान करेंगे, जिसमें वे ही लोग रहेंगे जो हमेशा कमेटियों में रहते आए हैं और जिन्हें कमेटियों में रखने का रिवाज है। वह कमेटी एक कमेटी होगी और यह वही करते हुए, जो कमेटियां करती रही हैं, अलादाद खां की याद को अमर बनाएगी।'

हरिशंकर परसाई की पुस्तक 'विकलांग श्रद्धा का दौर' भी राजकमल प्रकाशन की मेहरबानी है। 41 चुलबुली रचनाएं जीवन के विविध पहलुओं पर छुरियां तेज करती हैं।

हमारे पड़ौसी के पास अल्सेशियन कुत्ता था। भौंकता भी था। काटता भी था। सो कोठी के दरवाजे पर उन्होंने तख्ती लटकवा दी थी—कुत्तों से सावधान। पिछले दिनों घर आए। मैं परसाई जी की पुस्तक पढ़ रहा था। उन्होंने भी पढ़ी। वापस गए तो सबसे पहले दरवाजे पर लटकी 'सावधान' की तख्ती हटाकर फेंक दी। हमने तहकीकात की तो पता चला—इसी पुस्तक का कमाल था। 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता' इसकी मुफीद रचना है। उसका एक अंश, यदि आप भी कुत्तों और तख्तियों के शौकीन हैं, तो पढ़ लीजिए—

एक नए परिचित ने मुझे घर पर चाय के लिए बुलाया। मैं उनके बंगले पर पहुंचा तो फाटक पर तख्ती टंगी दीखी—"कुत्ते से सावधान।" मैं फौरन लौट गया। कुछ दिनों बाद वह मिले तो शिकायत की—"आप उस दिन चाय पीने नहीं आए।"

तीन कविताएं

'मां बनती हुई लड़की'

–मोहनकुमार डहेरिया

'एक'

मां बनती हुई लड़की
कितनी खूबसूरत लगती है
उसे पसंद है
आते हुए बसंत को
बाग में आने के पहले ही
घर की खिड़की के रास्ते
अपनी गोद में उतारना
उसे पसंद है
पेड़ों के जिस्मों से
किसी नई शाखा का निकलना
और नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाओं का
उसके स्वागत में
अपने नाजुक पंखों को फैला कर
नाचना।

'दो'

मां बनती हुई लड़की को
अच्छा नहीं लगता है
किसी गर्भवती जमीन से
एक समूचे सूरज का गुजर जाना
वह
धान के खेत के ऊपर उड़ते हुए
बाजों को देखकर
डरती है और
सारे खेत पर बांहें फैलाकर
आकाश की तरह
छा जाना चाहती है।

'तीन'

मां बनती हुई लड़की
देहरी पर बैठकर अक्सर
चिड़ियाओं को दाना चुगाती है
और अपनी कोमल हथेली पर
सपनों को उगाए
उनके पंखों पर बैठकर
दूर कहीं उड़ जाती है
मुंह पर
पवित्र और स्वच्छ हंसी बिखेरे
इस जमीन से
एक रंगीन इंद्रधनुषी आकाश की तरफ
धीरे धीरे उठती
मां बनती हुई लड़की
सच
कितनी खूबसूरत लगती है।

मैंने कहा—"माफ करें। मैं बंगले तक गया था। वहां तख्ती लटकी थी—कुत्ते से सावधान। मेरा ख्याल था, उस बंगले में आदमी रहते हैं, पर नेम प्लेट कुत्ते की टंगी दीखी।

और अब मुलाहयजा फरमाइए इसी पुस्तक की एक बेमिसाल झलकी—

'एक राज्य में एक शहर के लोगों पर पुलिस जुल्म हुआ तो लोगों ने तय किया कि पुलिस मंत्री का पुतला जलाएंगे।

पुतला बड़ा कद्दावर और भयानक चेहरे वाला बनाया गया। पर दफा 144 लग गई और पुतला पुलिस ने जब्त कर लिया।

अब पुलिस के सामने यह समस्या आ गई कि पुतले का किया क्या जाए। पुलिस ने बड़े अफसरों से पूछा—"साहब, यह पुतला जगह रोके कब तक पड़ा रहेगा? इसे जला दें या नष्ट कर दें?"

अफसरों ने कहा—"गजब करते हो। मंत्री का पुतला है। उसे हम कैसे जलाएंगे? नौकरी खोना है क्या?"

इतने में रामलीला का मौसम आ गया। एक बड़े पुलिस अफसर को 'ब्रेनवेव' आ गई। उसने रामलीला वालों को बुलाकर कहा—"तुम्हें दशहरे पर जलाने के लिए रावण का पुतला चाहिए न। इसे ले जाओ। इसमें सिर्फ नौ सिर कम

हैं। सो लगा लेना।"

हरिशंकर परसाई की ही पुस्तक 'और अंत में' छापी है वाणी प्रकाशन 61 एफ, कमलानगर, दिल्ली ने। पत्रात्मक शैली के फरंटिदार धागों से सिली-बुनी इस पुस्तक में 'और अंत तक' चौंतीस पत्र हैं। प्रत्येक की शुरुआत होती है 'प्रिय' से। अप्रिय लगे ती इसमें दोष किसका। प्रिय-अप्रिय का विश्लेषण बीसव पत्र की मार्फत आपको प्रेषित है—'इधर आत्म सम्मान की कुछ नई शैलियां भी प्रकट हुई हैं। जब मैं एक विद्यालय में पढ़ाता था तो एक प्रतिष्ठित प्रौढ़ लेखक-कवि मुझसे कहा करते थे कि अपने विद्यार्थियों से कहना कि अगर परीक्षा में 'मेरा प्रिय कवि' पर लेख लिखने को कहा जाए तो मेरे विषय में लिखे। अपने बारे में एक लेख उन्होंने मुझे लिख करके भी दिया था। मैंमे लड़कों को वह लिखा दिया। परीक्षा में यह पूछा भी गया, क्योंकि प्रश्न पत्र उक्त लेखक ने ही निकाला था। जब लेखक इतना सतर्क है कि परीक्षा कापी में भी यश खोजता है तब आप कैसे कहते हैं कि लेखकों में आत्म सम्मान नहीं है।

विविध रसशैलियों में डूबे इन पत्रों में हिंदी के अनेक दिग्गजों के नाम तैरते आपको मिल जाएंगे।

पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, शाहदरा से प्रकाशित रवींद्रनाथ त्यागी के 'भद्र पुरुष' में विविध पहलुओं पर 25 व्यंग्य हैं। सभी की गहरी पैठ है।

गद्य में पद्य की बानगी पढ़िए—

इन गुड़ियों की कई कठपुतलियों में जान है
आज शायर यह तमाशा देखकर हैरान है
खास सड़कें बंद हैं, तब से मरम्मत के लिए
ये हमारे वक्त की सब से बड़ी पहचान है
एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यह कहो
एक अंधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।
इस कदर पाबंदी-ए-मजहब कि सदके आपके
जब से आजादी मिली है, मुल्क में रमजान है।
कल नुमायश में मिला था चीथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिंदुस्तान है।

त्यागी जी ने इस पुस्तक में 'एक कानूनी सवाल' पर कुछ पंक्तियां नजर की है—

मेरे सहधर्मी वेद माथुर की सूचना के अनुसार, उत्तर प्रदेश के एक कलेक्टर कोई चार वर्ष पूर्व अजमेर के निकट स्थित पुष्कर घूमने गए। जब वे ब्रह्माजी के मंदिर के भीतर गए, तब किसी ने उनकी मखमली जूतियां चुरा लीं। शास्त्रों के अनुसार जहां जूते और स्त्री न चुराई जाएं, वह स्थान तीर्थ नहीं होता। कलेक्टर साहब ने इस पूरी पवित्र घटना की रिपोर्ट पुष्कर थाने में दर्ज करा दी। जिसके लिए उन्हें सवा रुपया जरूर देना पड़ा होगा। रिपोर्ट में जूतियों की कीमत तीस मुद्राएं लिखवाई गई। जूते क्योंकि कलेक्टर साहब के थे, वे बरामद हो गए और पुलिस ने एक आदमी को गिरफ्तार भी कर लिया। गिरफ्तार करने के बाद कानूनी समस्या यह पैदा हुई कि यह पता कैसे लगे कि ये जूतियां वाकई कलेक्टर साहब बहादुर की ही हैं और इस समस्या को सुलझाने के लिए एक दरोगा एक सिपाही के साथ आगरा आए। आगरा के डिस्ट्रिक्ट जज की अदालत में इस बात की शिनाख्त की गई कि जूते वाकई कलेक्टर साहब के ही हैं। अफसर के जूते को अफसर नहीं पहचानेगा तो और कौन पहचानेगा? इसके बाद दरोगा जी आगरा से वापस लौट गए। इस पूरी कार्यवाही पर मात्र पांच सौ मुद्रा का खर्च आया। पुलिस ने अभियुक्त के खिलाफ अदालत में चालान पेश कर दिया और गवाहियां शुरू हो गई। जूते के मालिक और कलेक्टर तथा उनकी पत्नी भी गवाही देने आए। गवाही के बाद उन्होंने अपनी यात्रा का व्यय और भत्ता लिया जो लगभग आठ सौ मुद्राओं के करीब आया।

मुकदमा जो है, वह अभी जारी है। अगली तारीख पर आगरा के डिस्ट्रिक्ट जज को भी बुलाया गया है क्योंकि जूतों की शिनाख्त जो हुई थी वह उन्हीं की अदालत में हुई थी। इत्तफाक से आगरा के उन जज साहब का तबादला हो गया और वह कहां हुआ है, इसकी जांच पड़ताल जारी है। वे सिर्फ इतना बतलाएंगे कि कलेक्टर तथा उनकी पत्नी ने जूतों की शिनाख्त उनकी अदालत में की थी। इतना बताने के बाद वे लगभग एक हजार रुपयों के भत्ते वगैरह के अधिकारी होंगे। जिस थानेदार ने वारदात की जांच की थी, वह भी इन दिनों कहीं और तैनात है। अजमेर आने पर वह भी भत्ते का हकदार होगा। संक्षेप में स्थिति यह है कि मुकदमा अभी कोई दो साल और चलेगा। हजारों रुपये खर्च करने के बाद कलेक्टर साहब के जूते पहनने लायक भी रहेंगे या नहीं, यह कहना मुश्किल है। हाजी लकलक के अनुसार एक आशिक जब तक महबूबा के पास पहुंचे थे, तब तक उसके ग्यारह बच्चे हो चुके थे और बारहवां होने वाला था। प्रेमी ने स्थिति देखी और सिर पकड़ कर बैठ गया। और हां, शायर के मुताबिक सितारों के आगे भी जहां आबाद है। अगर यह जूतों वाला मामला कहीं हाई-कोर्ट या सुप्रीम कोर्ट चला गया तब तो यह कहना ही मुश्किल है कि क्या होगा। ये जिंदगी के मेले दुनिया में कम न होंगे, अफसोस हम न होंगे।

'ब' से बैंक' (सुरेश कांत) में हास्य व्यंग्य का लक्ष्य आधुनिक बैंक है। कांत जी ने इसमें किसी को नहीं छोड़ा। अधिकारियों से लेकर कर्मचारियों तक को, यहां तक कि बैंक यूनियन की भी खासी धुनाई कर डाली है। हास्य व्यंग्य की नली से हाथी के मुंह में भी नीम की चटनी किस सुगमता से ठूंसी जा सकती है, वह सिद्ध कर दिया है 'ब' से बैंक ने'।

सुशील कालरा की पुस्तक 'चमचे का ढक्कन' भी पराग प्रकाशन की करामात है। कालरा जी सभी सगे-संबंधियों, पास-पड़ोसियों से प्रताड़ित पुरुषत्व के गले से निकली आवाज को हास्य-व्यंग्य में ढालते हैं। यथा—

सुधीर ने सब्जी बनाई। जान-बूझकर रोटियां जला दीं। हम दोनों ने मिलकर बैडरूम में ही उन्हें खाना परोसा। टिंडे की मिर्चीदार सब्जी का ग्रास मुंह में जाते ही सासजी की आंखें बाहर आ गईं। वह रूमाल से आंखों को दबाते हुए चीखी,— "कमबख्तों, पानी लाओ।" मैंने नम्रतापूर्वक पानी का गिलास उनके हाथ में पकड़ा दिया। खारे पानी का घूंट मुंह में जाते ही उन्होंने बड़े जोर से कुल्ला मेरे ऊपर कर मारा। मैं अभी उनकी तबीयत का हाल पूछने ही वाला था कि सुधीर ने पॉप संगीत का रिकार्ड बजा दिया। उस रिकार्ड ने तो सोने पर सुहागा डालते हुए सारे वातावरण में हुड़दंग मचा दिया। सास जी घायल हथनी की तरह दहाड़ने लगीं और जोरों से गालियां देने लगीं। सुधीर का हाथ पकड़ कर उन्होंने मरोड़ दिया। इससे उसकी बायीं बाजू टूट गई। मुझे जोरों का धक्का देकर ड्राइंग रूम में दे पटका और बीच के दरवाजे पर अपनी ओर से चिटकनी चढ़ा दी। रसोई को जाने वाले रास्ते बंद कर गलियारे में कांटेदार तार लगवा दी गई, जिससे मेरी 'सप्लाई लाइन' कट गई। मैं ड्राइंगरूम में पड़ा आने वाले कल की लड़ाई की रणनीति पर विचार करने लगा।

जिन पुस्तकों की चर्चा मैंने की, उन्हें पढ़ने और कुछ अंश छांटने में समय बरबाद किया (बरबाद इसलिए कि उनमें छपी सचाई का असर आप पर सिर्फ हंस भर देने के अलावा और कुछ होने का नहीं), वे सभी पिछले वर्ष की औलाद हैं। बेशक उनमें से कुछ प्रसवकाल ही में छपकर आ गईं और कुछ सन् 1980 की शवयात्रा के समय छपीं, फिर भी उनकी तैयारियां 80 की जीवित अवस्था में ही हुई।

पिछले वर्ष न हास्य एकांगी रहा, न व्यंग्य। जो कुछ छपा अच्छा छपा और उसने विविध पहलुओं पर सौद्देश्य प्रहार किए।

यह भी खूब रहा कि हास्य-व्यंग्य की इन पुस्तकों ने चटोरे पाठकों की जेबें काफी सीमा तक हल्की कीं। महंगा हुआ कागज, मारे गए पाठक। और हमदर्दी इन पंक्तियों को लिखते हुए हमें हो रही है।

धमन भट्टी में

धर्मवीर सिंह चंदेल

क्षणिका

कन्धो पर भार ढोता
उद्देश्यहीन
दिशाहीन
कहाँ जाएगा
नहीं मालूम
उसे तो जलना है
धवन भटंटी में
गलना है ढलना है
किसी ऊंची इमारत के लिए

समय की रफ्तार

हेमलता आंजनेयलू

जब थके हारे मन की उमंग
किसी तरह सांस ले पानी चाहती है
तो समय की रफ्तार
भागती सी लगती है।

जब प्रतीक्षारत प्राणों का स्पंदन
संभावित आशंकाओं से
अपने को उबार लेना चाहता है
तो समय की रफ्तार
रुकी-रुकी सी लगती है।

फांसी के फंदे के सामने पहुंचकर
जब अभियुक्त अपनी अंतिम इच्छा
व्यक्त करना चाहता है
तो समय की रफ्तार
सुन्न, निस्पंद, निष्प्राण-सी लगती है

पर समय ने कब किसकी प्रतीक्षा की
वह तो अपनी रफ्तार में
निष्पक्ष, तटस्थ बढ़ता जाता है—
यह तो फटी बिवाई की अपनी
अपनी प्रतिक्रिया है
जो उसके कदम से कदम मिला पाने में
अपने को असमर्थ पाकर
बेलय, बे-सुर, प्रतिध्वनित होती है।

●

कोई कोई

मुमताज मुफ्ती

यद्यपि तिल्लांवाली से बैगमां को गए हुए एक जमाना गुजर चुका है, लेकिन गांव में आज भी अगर कोई बैगमां का जिक्र करे तो मजमे पर खामोशी छा जाती है। अजीब बोझिल सी खामोशी ! औरतों के होंठ घृणा से बटुए की तरह मिल जाते हैं। आंखों में हीनता की झलक लहराती है और बात बदलने के लिए वे कोई भूला-बिसरा तजकिरा शुरु करने की कोशिश करती हैं। मर्दों के दिल धड़कने लगते हैं और उनका जी चाहता है कि बैगमां की बात जारी रहे।

बैगमां का जिक्र शुरु हो जाए तो औरतें कहती हैं, ए है। किसकी बात शुरू कर दी ? वो क्या औरत थी ? · डायन कहीं की···न शर्म न हया। बस, सिर्फ एक चाव था उसे···तौबा है··· गांव वालों के माथे पर कलंक का टीका लगा गई। अल्लाह बचाए। इतनी हवस भी न हो किसी में···

और उस जमाने में जब वह तिल्लांवाली में थी, चाची फातां तो आग बगोला हो जाती थी बैगमां के नाम पर, "नाम न लो", वह चिल्लाती, "उस कलमुंही का"।

और रहमत, जिसे आदत है जलती पर तेल डालने की, चाची को छेड़ने के लिए कहती, "लो चाची। मुंह तो उसका यूं चमकता था जैसे रोगनी रोटी और आंखें तो जैसी खाए जाती हों। यह तो न कहो वह कलमुंही है···यकीन न आए तो चाचे से पूछ लो।"

इस पर चाची के जख्म फिर हरे हो जाते और गुस्से में उसके मुंह से झाग निकलने लगते, "ए है। मुझे क्या पड़ी हैं किसी से पूछूं···कौन नहीं जानता उस बदकार को। सारे इलाके के मर्दों को तिगनी का नाच नचाती गई है। इक आग भड़क रही है उसमें। कहती थी कोई मर्द भी हो उसे इंधन बनाके इस दोजख की भट्टी को जलाए रखूं। कहीं ठंडी न पड़ जाए। अपनी-अपनी मिट्टी होती है बहन। किसी की ठंडी होती है, किसी की गर्म।"

"पर चाची।" रहमत अर्थपूर्ण मुस्कान से टोक कर कहती, "कुदरत की बातों में किसका दखल है। तपती हुई मिट्टी लगा दी जाए तो कोई बेचारी क्या करे ?"

इस पर चाची भन्ना उठती, "कुदरत का यह मतबल तो नहीं कि तपती को और हवा दे-देकर दोजख की भट्टी बना लो। आखिर खुदा को भी मुंह दिखाना है इक रोज।"

और गांव का सूबा जिसे सारे सूबे मुंहफट कहा करते हैं, औरतों की बातें सुन कर कहकहा मार कर हंसता और कहता, "बहना ! तू जो चाहे कह ले उसके बारे में, मगर तुम सब उसका अहसान नहीं चुका सकतीं हां ! अब वो चौधरी तालेअ बट्टे वाला तिल्लांवाली के खिलाफ कार्रवाई नहीं करेगा जिंदगी भर।"

यह सुनकर चाची चिल्लाती, "ए, तालेअ ने क्या कुरआन उठाकर कह दिया है कि वह तिल्लांवाली से लड़ाई भिड़ाई नहीं करेगा या इस्टाम लिख कर दे दिया है उसने। इन बट्टे वालों का क्या भरोसा सूबे।"

मेरे लिए तो बैगमां एक रहस्य थी। कभी तो वह गांव वालों के जमघटे के पास से यूं गुजर जाती थी जैसे शुद्रों के गांव में वह अकेली ब्राह्मण हो। गांव के गुंडों, अमीरा, जानी और सरदारे को देख कर उसकी छाती यूं तन जाती और भवें यूं उभरतीं जैसे कोई कडियल सूरमा दुश्मन के अपाहिज सिपाहियों को देखता है···और दाउद चौधरी और सारे माडी वालों को देख कर वह नफरत से मुंह फेर लेती थी जैसे वे कोई पिलपिले कीड़े हों।

बैगमां साधारणतः चुप रहती थी। अव्वल तो वह बात करती ही न थी और अगर उसके बिना उपाय न होता तो कम शब्दों में जवाब देकर अपने काम में व्यस्त हो जाती। उसने कभी अपने विचार प्रकट नहीं किए थे। अलबत्ता जब वह आंख उठा कर सरसरी तौर पर किसी की ओर देखती तो उसकी समस्त भावनाएं उसकी दृष्टि में इतनी स्पष्ट झलकतीं जैसे सिनेमास्कोप के पर्दे पर खड़ी हो।

न जाने मैं उससे इतना भयभीत क्यों था। हालांकि हम दोनों इसी गांव में पल कर जवान हुए थे। इन्हीं मैदानों में इकट्ठे खेला करते थे। जब हम ईंटों के विकेट बना कर स्कूल की तख्ती से गेंद-बल्ला खेलते और गेंद दूर निकल जाती तो मैं अक्सर चिल्ला कर उससे कहा करता, "बैगी ! दौड़ कर ला दो हमारा गेंद।··और बैगी भाग कर गेंद उठा लाती। जब हम गुल्ली-डंडा खेलते तो बैगी चुपचाप खड़ी देखा करती और जब वह हमारे रास्ते में आ जाती और हम चींख कर कहते", हट जा आगे से बेगी नहीं तो गुल्ली तेरे सर पर लगेगी···हट जा ···उधर हो जा। देखती क्या है खड़ी ?"

हम चिल्लाते रहते लेकिन वह यूं चुपचाप खड़ी रहती जैसे उससे कुछ कहा ही न गया हो। उसकी दृष्टि खेल पर यूं केंद्रित रहती जैसे कोई भूखा स्वादिष्ट भोजन की ओर देखने को विवश हो। लेकिन उन दिनों किसे मालूम था कि यही बेगी एक

देन बैगमां बन जाएगी। उन दिनों वह एक आम-सी लड़की थी जैसे गांव की लड़कियां होती हैं। केवल इतना अंतर था कि वह आम लड़कियों की अपेक्षा कुछ अधिक खामोश थी। ज्यादा निडर थी—इस हद तक निडर जैसे संवेदनाहीन।

वह दीने तेली की लड़की थी। उसका बाप मर चुका था और वह अपनी मां के साथ गांव के नुक्कड़ पर बने हुए कच्चे घर में रहा करती थी जहां ड्योढ़ी में कोल्हू लगा हुआ था और जो मरियल से बैल उसे खींचते रहते थे।

फिर कस्बे के स्कूल से दसवीं जमात पास करने के बाद मैं कालेज में पढ़ने के लिये शहर चला गया और जब दो साल के बाद गांव वापस आया तो सारे गांव में बैगमां का चर्चा था। औरतें कानों से मुंह जोड़-जोड़ कर उसके किस्से बखान कर रही थीं। बूढ़े हंस-हंस कर उसका वर्णन सुन रहे थे और जवान मूंछें मरोड-मरोड कर मुस्कराते थे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि बैगमां कौन है जिसके कारनामों पर गांव में शोर मचा है।

आखिर मैंने चाची पातां से पूछा। 'चाची। ये बैगमां कौन है?'

"ए है। तू नहीं जानता क्या?" वह बोली "वही तेली की बैगू।"

बैगू—? मैंने हैरत से दोहराया, "वही बेगी जो हमारे साथ खेला करती थी।

"हां—हां वही डायन", चाची बोली, "अब तो बड़े-बड़ों से बोलती है। तोबा है! ऐसी खिलाड़ी तो कभी हुई ही नहीं थी तिल्लांवाली में।"

"चाची! वो बेगी तो बहुत अच्छी लड़की थी।" मैंने कहा।

"अब क्या कम अच्छी है।" वह चिल्लाई, "जो कोई देखता है सकते में आ जाता है। ऐसी चालाक है वो।"

"नहीं चाची। वो तो बड़ी कमजबान थी।" मैंने बात काट कर कहा।

"ए है, जबान चलाने की उसे जरूरत ही क्या है?" चाची ने हाथ चला-चला कर कहा "जिसकी बोटी-बोटी थिरकती हो उसे भला बात करने की क्या जरूरत, वह तो आंखों-आंखों में काम कर लेती है। तभी तो आंखों में हर वक्त सुरमे की धार लगाए रखती है और अखरोट मुंह पर यूं चढ़ा रहता है जैसे मुंह में रंग घोल कर आई हो।

चाची पातां की बातें मैं ताज्जुब से सुनता रहा लेकिन मेरी समझ में खाक न आया। आता भी कैसे? कहां वह बेगी जो हमारा गेंद लाने के लिए गंली की तरह भागती थी और हमें खेलते हुए यूं देखा करती थी जैसे गंवार शहर में जाकर मुंह फाड़े चीजों को टिकटिकी बांधे देखा करते हैं। उस बेगी के संबंध में ऐसी बातों पर विश्वास करना! लेकिन सारे गांव में उसकी बातें हो रही थीं। न मालूम क्या बात थी। ऐसा मालूम होता जैसे कोई विशेष घटना घटित हुई हो। औरतें जहां बैठतीं हौले-हौले बातें करतीं। हाथ चला-चला कर बातें करतीं। कानों से बाल हटा-हटा कर सुनतीं और हल्की सी आहट पर भी रुक कर इधर उधर देखतीं जैसे किसी के आ जाने की शंका से भयभीत हों। इन बातों को देख कर विश्वास न करना भी तो कठिन था।

रह-रह कर मेरे दिल में खयाल पैदा होता था कि आखिर बात क्या है जिसके बारे में सारे गांव में बातें हो रही हैं। अभी मुझे बात का इल्म भी न हुआ था कि एक दिन मैंने उसे देख लिया।

उसे देखने के शौक में मैं अक्सर किसी न किसी बहाने उसके मकान के सामने से गुजरा करता था। मकान का दरवाजा हमेशा खुला होता। अंदर ड्योढ़ी में कोल्हू में जुते हुए बैल धीरे-धीरे चलते रहते। कितनी गंदी थी वह ड्योढ़ी जिसकी हर चीज तेल भरे मैल से थुपी नजर आती थी। कभी कभार कोल्हू के पास उसकी मां किसी काम में व्यस्त दिखाई देती। उसका मुंह दीवार की ओर होता था और कोल्हू की चूं-चूं के अलावा घर पर बिल्कुल खामोशी छाई रहती थी।

उस रोज दरवाजे पर मैं रहीमां तेलन को देखकर रुक गया। मैंने इरादा किया कि अपना रास्ता बदल दूं। रहीमा तेलन क्या सोचेगी कि रास्ते से हटकर मकान के करीब से गुजरने से मेरा क्या मतलब है। लेकिन जब मैंने उसे बैगमां को आवाज

मैंने अपने
अधरों को सी लिया
तुमने संवादहीन भाषा का
अर्थ नहीं पहचाना
सारे संकेतों को
चुप्पी में जी लिया !
तुमने यह क्यों माना
मैं तुमसे विलग हुई ।
यह विभ्रम क्यों हुआ ?
मैंने एकांत के क्षणों में
बस ।
तुमको ही टेरा है ।
साक्षी
मेरी फैली बांहों का घेरा है ।
पर यह कैसी विडंबना है····
तुमने ही मुझे नहीं स्वीकारा !
तुम···
अथाह सागर के केंद्र ही
बने रहे
और मैं तुम्हारे तट को छूकर
लहर की तरह

मरुस्थल का मेघ

मृणालिनी श्रीवास्तव

आहत, थकी
लौट आती हूं

ओ मेरे प्राणों के स्पंदन !
जितना ही
तुम नकारते हो
मुझको,
मेरी अस्मिता
अस्वीकृत
विक्षुब्ध
उठ खड़ी होती···
उतनी ही गरिमा से !
पर
ऐसे क्षण में भी मैं
तुमसे उपरत शायद कहीं
नहीं हो पाती !
शायद यह
मन के संबंध की
अवशता है
मेघ ज्यों मरुस्थल का
जहां सूखता है मन
वहीं पर बरसता है ।

●

देते सुना तो इस खयाल से कि शायद बेगी बाहर निकल आए मैं सब कुछ भूल गया और रुककर उधर देखने लगा ।

अकस्मात एक भरपूर मुटियार ने दरवाजे से सिर निकाला । अगर वह मुटियार मुझे किसी और जगह दिखाई देती तो चाहे कितने ही शौक से मैं उसकी ओर देखता मुझे कभी यह खयाल न आता कि यह वही बेगी है, बल्कि मैं समझता कि यह कोई अजनबी औरत है जिसे मैंने कभी नहीं देखा ।

उसे अचानक इस कदर करीब देखकर मैं घबरा गया और इतना बेचैन हुआ कि वहां ठहरना मेरे लिए असंभव हो गया और वहीं खड़े रहकर देखते रहने की तीव्र इच्छा के बावजूद मैं अनजाने में वहां से चल पड़ा । उस समय मेरा दिल जोरों से धड़क रहा था । जब मैं पास पहुंचा तो बैगमां ने कनखियों से मेरी ओर देखा और मैंने महसूस किया जैसे एक क्षण के लिए वह ठिठक सी गई हो या शायद यह मेरा वहम हो । उस समय मेरा जी चाहता था कि रुककर उससे पूछूं—"क्या तुम वही बेगी हो ? इतनी जल्दी बैगमां बन गई तुम ? लेकिन हिम्मत न हुई । वह अकेली होती तो शायद मैं दुस्साहस कर लेता लेकिन रहीमां की मौजूदगी में उससे बात करना मानो बिलकुल असंभव था ।

दो साल के मकमूल थोड़े अरसे में उसका कद बूटे की तरह निकल आया था और जिस्म यूं भर गया था जैसे अंगूर रस से भर जाते हैं । उसका रंग जवानी की वजह से यूं निखर कर साफ हो गया था जैसे भीगने के बाद उड़द की दाल का छिलका उतर जाता है । वह रंग खाली सफेद न था बल्कि उस सफेदी तले रोगन की गहरी झलक थी ऐसा लगता था, जैसे उसका मुंह, गरदन और बाजू सुनहरी रोगन से भीगे हुए हों मैंने महसूस किया जैसे बैगमां भी उसी सुनहरी रोगन की धार हो जो उनकी ड्योढ़ी के कोल्हू के बरतन से गिर रहा था ।

हम गांव के रहने वाले नाक-नक्शे और रंग रूप के कायल नहीं होते । बैगमां के रंग-रूप ने मुझे इस कदर प्रभावित नहीं किया था जिस कदर उसके अंदाज ने । वह यूं खड़ी थी जैसे क्षुद्रों की बस्ती में वह अकेली ब्राह्मण हो । जैसे उन कनबतियों के जवाब में जो गांव में जगह-जगह हो रही थीं, वह कह रही हो, "मेरी बला से ।"

गोरियां गांव में होती ही हैं । भले कम होती हैं । रंग भी अच्छे से अच्छा होता है और जवानी तो यहां टूट कर आती है लेकिन आसपास के सारे गांवों में मैंने अकेली ब्राह्मणी नहीं देखी थी । उसमें ऐसी गरिमा थी जैसे गिरे पड़े झोंपड़ों में

मिनारों वाली सफेद मस्जिद खड़ी हो—और फिर वह रोगनी हाथ पांव जिन्हें देखकर खयाल आता था कि अगर इन्हें दबाया जाए तो अंदर से रोगन की बूंदियां रिस कर टपकने लगेंगी।

उसे देखकर मुझ पर नशा सा तारी हो गया और न जाने किधर निकल गया। और कब तक खेतों में आवारा घूमता रहा, सो नहीं मालूम। उस वक्त न तो मेरे मस्तिष्क में वासना थी और न प्रेमभाव। न जाने क्यों, मेरा जहन दुनिया की बेदर्दी के अहसास में डूबा हुआ था। सरसों के फूल मेरी निगाह में मैले धब्बे दिखाई दे रहे थे। चांद दागदार था और आसमान फीका और उदास। और क्षितिज पर फैली हुई पहाड़ की चोटियां जैसे बैठी-बैठी सी थीं जैसे खोखली होने की वजह से पिचक गई हों।

उस रात जब मैं घर लौटा तो मैंने महसूस किया जैसे यह मेरा घर ही न हो। सारे घर पर एक अजीब-सा धुंधलका छाया हुआ था। मां की कमर कुछ और झुकी हुई थी। बहन शमीम ठिगनी-ठिगनी दिखाई दे रही थी और चचा की छाती देखकर जो हर वक्त तनी रहती थी, मुझे अहसास हुआ जैसे उसमें उन्होंने खाली हवा भर रखी हो। वे सब कमजोर, बेबस और पानी दिखाई दे रहे थे और उनमें वह खड़ी थी—वह! और बाहर दरवाजे पर दौला फकीर सदा लगा रहा था, 'अल्लाहो बाकी मिनकुल फानी।"

बैगमां को देख कर मेरे दिल में कई तरह के जज्बात पैदा हो गए। कभी यह शौक बढ़ जाता कि आखिर वह क्या बात थी जिसके बारे में गांव की औरतें चेमेगुइयां कर रही थीं। लेकिन औरतों को बातें करते हुए देखकर मैं वहां से सरक जाता इस खयाल से कि कहीं उनकी बातों को सुन न पाऊं। दरअसल उन्हें ऐसी बातें करते हुए देखकर मुझे गुस्सा आ जाता और बात जाने बगैर ही मैं महसूस करता कि जसे वे चांद पर थूकने की कोशिश कर रही हों।

फिर एक दिन जब इलाके का थानेदार दो सिपाहियों को लेकर गांव में आ गया और बाहर धूप में चारपाई पर बैठ कर चौधरी दाऊद से बातें करने लगा तो मैंने इत्तफाक से अज्जे मिरासी से पूछा। मैंने कहा, "अज्जे! ये थानेदार किसलिए आया है गांव में, खैर तो है?"

अज्जे मिरासी अपने विशिष्ट अंदाज में बोला, "मियां जी इसी बैगमां के मामले में यह आता जाता रहा है ना यां।"

"क्या मामला है वो बैगमां का?" मैंने पूछा।

"तुम्हें नहीं मालूम मियां?"

"मुझे कैसे मालूम होता। मैं तो कालेज में था उन दिनों।"

"हां"— वह बोला, "तुम तो शहर गए हुए थे न, समझकर लो—वो तो हद हो गई मियां जी। सारे इलाके में धूम मची है इस वाकिये की। मियां जी, वो अपने तेली की छोकरी जो है न बैगी उसने तो समझकर लो हद कर दी।"

"आखिर हुआ क्या?" मैंने अधीरता से पूछा।

"होना क्या था···समझकर लो जब से वो जवान हुई है ऐसी बनठन कर रहती है जैसे समझकर लो तेली की न हो किसी लाटसाब की बच्ची हो···किसी को मुंह नहीं लगाती, बात नहीं करती···बात करना अलग रहा मियां जी, वो तो आंख उठा कर नहीं देखती और फिर मुंह-माथे की ऐसी है कि समझ कर लो हर गबरु का दिल चाहता है उससे बात करने को। ये तेलनियां तो ऐसी ही होती हैं। मियां जी, उन पर जवानी तो यूं आती है समझकर लो जैसे कचौरी तेल में फूलकर लाल हो जाती है।" अज्जे मिरासी हंसा, "बैगी की जवानी देख कर अपने गांव के शौकीन नौजवानों के दीदे उबल पड़े। उन्होंने बहुत हाथ पैर मारे मियां जी, पर जब दाल न गली तो समझ कर लो बेसब्रे होकर बटटे और शीद्ध के दस-बारह नौजवान रात के वक्त दीवार फांद कर बेगी के घर जा घुसे और फिर उसकी मां को रस्से से बांध दिया।"

"हरामी!" मैं गुस्से से चिल्लाया।

"मियां जी?" वह बोला, "समझकर लो, हराम-हलाल तो साथ ही साथ होता है इस दुनिया में। पर कहते हैं जब वे सब वहां से लौटने लगे तो बेगू ने चिल्ला कर कहा, अगर तुम में कोई मर्द है तो कसम है उसे अपनी मर्दानगी की कि कभी यहां अकेला आए। कहते हैं, उसने छाती ठोंक कर कहा यह! और अगले रोज बात गांव वालों को मालूम हो गई। समझ कर लो मियां जी, ऐसी बात भी छुपी रही है कहीं। और तुम जानो ही हो मियां जी, समझकर लो बात फैलाने में भला चाची पातां का जवाब है कोई सारे गांव में। कहती फिरी "लो सुना तुमने, तौबा है, अल्लाह ही पनाह में रखे इन तेलनियों से! शर्म से

पेत्र बेज्रुच की कविता

पेत्र ब्रेज्रुच चेकोस्लोवाकिया के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी कविताओं के आधार पर अनेक चित्रकारों, मूर्तिकारों तथा संगीतकारों ने अपनी रचनाएं रचीं। उनका केवल एक ही कविता-संग्रह 'सिलेजिया प्रदेश के गीत' विश्वविख्यात है।

इसी संग्रह में से कविता 'लाल फूल' का अनुवाद यहां प्रस्तुत है।

लाल फूल

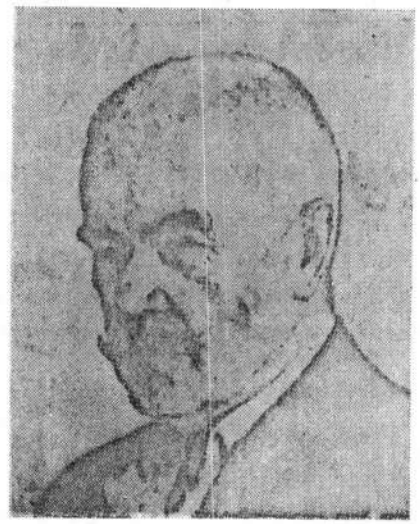

पेत्र बेज्रुच

अंधेरी खिड़की द्वारा धुंधले गमले में
रूख और नुकीला केक्टस क्रोधभरी दृष्टि से देख रहा था।
एक सवेरे
लाल चषक डंठल से बाहर निकला
लाल फूल।

हमारे यहां दूसरी आंखों के कवि थे
जिन्हें सुगंधित और मनोहर गुलाब पसंद थे
गुंजायमान द्विपदी द्वारा
उन्होंने गुलाब की सराहना की
और उस लाल फूल को तिरस्कृत किया।

आत्माएं रूखी हैं जो जीवन में अकेली चलती थीं
नोकों और कंटकों ने उन्हें लबालब भर दिया।
उनके हृदय में क्या था ?
यदि एक बार फलती-फूलती थीं और फूलतो रात को
फूल नीललोहित था।

अनुवादक : यारा श्त्येपान

सिर झुकाने के बजाए छाती ठोंक कर कहने लगी कि कोई मर्द है तुम में तो अकेला आए। कभी सुना मियां जी ?" अज्जे मिरासी हंसने लगा।

"और फिर आठ रोज बाद सिपाही लेकर यही थानेदार कार्रवाई करने आ गया गांव में। समझकर लो, पहले तो यहीं चारपाई पर बैठकर पूछ-ताछ करता रहा। सभी यहीं बैठे थे। अमीरा जानी, सरदारा और दाऊद चौधरी और सारे माड़ी वाले। फिर जब उसने तेलन को देखा तो समझ कर लो, उसकी आंखें उबल गईं।" अज्जे मिरासी की आंखों में चमक लहराई, "मियां जी, कहते हैं उसकी आवाज मद्धम पड़ गई। फिर एक रोज अपनी खाकी वर्दी और सीटी-पेटी के घमंड में जाकर तेलन से कहने लगा लो मैं मर्द हूं और अकेला आया हूं। तो समझकर लो उसी रात सुबे मुंहफट जो उधर से गुजरा तो देखा कि तेलन के मकान की दीवार के तले पड़ा हुआ हाय-हाय कर रहा है। पेटी टूटी हुई थी और पीठ पर समझ कर लो इत्ते-इत्ते दो जखम थे। अब उस घर का रुख नहीं करता कभी। न ही उसे बुलाता है। यहीं बैठ कर कार्रवाई कर लेता है। यहां जैसे पुलिस वाले किया करते हैं...और समझ कर लो कार्रवाई क्या करेगा ये। वो 'तेली की' तो मानती ही नहीं कि कुछ हुआ भी था। सभी ने जाकर उसे समझाया, मिन्नतें की और फिर डराया धमकाया कि एक बार कह दे बात सारी और रपट लिखवा दे।

चौधरी ने खुद जाकर मिन्नतें कीं, बेगी तेरे ही भले की कहता हूं, तू मान जा। पर उसने सुना ही नहीं—वो कहती है ये गांव का मामला है, हम समझ लेंगे आप ही। सरकार को इससे क्या लेना-देना।

अज्जै मिरासी की बात सुन कर उल्टी मेरी निगाह में वह ब्राह्मणी और भी उच्च जाति की बन गई। और उसके माथे पर चंदन का टीका लग गया और क्षुद्र और भी नीच हो गए और मुझे इस बात पर शर्म-सी महसूस होने लगी कि मैं एक क्षुद्र हूं। मेरा जी चाहता था कि किसी दिन वह मुझे अकेली मिले, अकेली। दूर तक कोई दूसरा न हो और मैं उससे कहूं, मैं मर्द नहीं ब्राह्मणी, मैं शूद्र हूं और तेरे पास आया हूं लेकिन ये तो गलत है...मेरे दिल से आवाज आती, मैं मर्द तो नहीं, लेकिन क्षुद्र भी नहीं हूं। फिर मेरा उसके पास जाने का मतलब ? लेकिन मेरा जी चाहता था कि मैं उससे अकेले में मिलूं। और कुछ नहीं तो अपनी जेब से गेंद निकाल कर फेंक दूं और उससे कहूं बेगी जा मेरी गेंद उठा ला जैसे अब भी वह बेगी हो। जैसे कोई घटना हुई ही न हो।

फिर एक रोज अचानक अकेले में वह मेरे सम्मुख हो गई

उसके मकान के सामने से गुजर रहा था कि अचानक वह हर निकली। मेरा दिल उछल कर मुंह में आ गया। मैं रुक ा। अब एक क्षण के लिए वह भी रुक गई। उसके होंठों पर का-सा तबस्सुम खेल गया। मैंने बात करने की कोशिश की गर जैसे मेरे हलक में आवाज नहीं थी। मुझे खामोश देख कर सने अपने आप को संभाला और फिर यूं चल पड़ी जैसे मैं न था बल्कि मैदान में एक खंभा गड़ा था। उस दिन मुझे ालूम हुआ कि अकेले में उससे बात करना और भी मुश्किल ा और किसी तीसरे की मौजूदगी के सहारे के बगैर बात हो ो नहीं सकती थी। अकेले में तो ब्राह्मणी और क्षूद्र का अंतर ढ़ जाता था, बहुत ही।

उस रोज मैंने फिर महसूस किया कि मैं भी क्षूद्र था। ोच क्षूद्र। फिर जल्द ही दो-तीन बार मैं अकेले में उसके पास गुजरा लेकिन हर बार वही हुआ। उसे देख कर मैं वैसे ही ंभे की तरह गड़ कर रह जाता और मेरे हलक में बात अटक र रह जाती और वह मेरी मुश्किल का अहसास करके स्करा देती। हल्की-सी मुस्कराहट जिसमें तरस झलकता था।

फिर घर पहुंच कर मैं अपने-आप को कोसता और सोचता ाखिर उससे बात करने में क्या मुश्किल है? हिचकिचाहट का वाल ही पैदा नहीं होता और गांव वालों का क्या है? ज्यादा ज्यादा कहेंगे न, मियां फतेह मोहम्मद का लड़का भी तेलन र रीझ गया। बला से कहते रहें....और अगर बात मियां जी तक भी पहुंच जाए तो वे क्या इस पर विश्वास कर ंगे। ज्यादा से ज्यादा यहीं कहेंगे न, "अख्तरे। बेटा कोई ऐसी रकत न करना कि लोग तुम्हारे बूढ़े मियां की सफेद दाढ़ी धूल डाल दें जैसे कि उनकी आदत है। मुझे अच्छी तरह ालूम था कि मियां जी को मुझ पर विश्वास था। वे जानते कि अख्तर कोई ऐसी बात न करेगा जिससे खानदान की ज्जत पर आंच आए और फिर एक ब्राह्मणी से बात करने में ज्जत पर आंच कैसे आ सकती है। इससे तो बल्कि इज्जत ढ़ जाती है।

मगर मुझे अपनी इस खामोशी से डर लगने लगा था। सलिए मैं एकांत में बैठ कर सोचता कि किसी दिन चुपके से ंगमां के घर में चला जाऊं और जाकर यूं ही आम सी रस्मी ातें करें जैसे कोई रोज का आने-जाने वाला करता है। उससे छूं कि तेल का क्या भाव है आजकल और तुम्हारी मुर्गी ने ं बच्चे निकाले हैं। और तुम्हारे बैल की टांग के जख्म का अब या हाल है? जैसे कोई बात ही न हो, जैसे वह गांव की एक ाम औरत हो जिस तरह पातां या रहमत।

हर बार जब मैं उधर जाता तो सोचता कि आज जरूर उसके घर चला जाऊंगा। लेकिन दरवाजे पर पहुंच कर मेरे पांव कड़ जाते और आप ही आप मुंह दूसरी ओर मुड़ जाता। यहां क कि मैं उसके घर से गुजर जाता...और इस तरह खामोशी

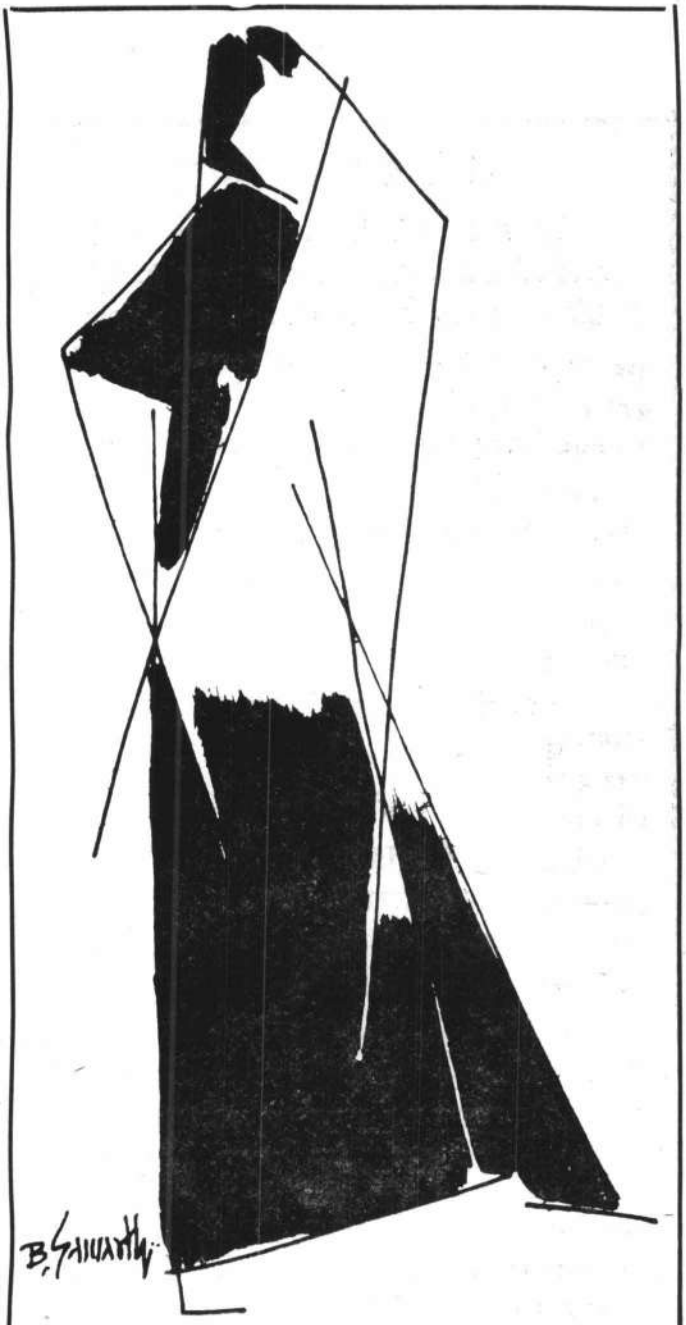

वातचक्र

भगवती प्रसाद निदारिया

सोंधियाई मिट्टी और सतरंगे मनोविज्ञान से दूर
चकाचौंध भरा, शीशम का वृक्ष
फैलता जाता है—संस्कृति के धरातल पर।
कल्पना के अन्तस् पर रेंगते सर्प
ढूंढ़ते हैं चंदन का वृक्ष सुरभिहीन।
हर शब्द का वास्तविक अर्थ
शाख दर शाख हो बनता जाता है पंगु।
औपचारिकता की छाल ढके रहती है—भ्रम
प्रगति का और जीवन से प्रतिपल
सुख ढूंढ़ने के उपक्रम में गहराता जाता है—
तटस्थ सलेटी अंधेरा।

से पका हुआ फोड़ा और पकता रहा और छह महीने गुजर गए।

एफ०ए० में मैं फेल हो गया था और मियां जी ने यह भी कह दिया था कि अच्छा हुआ अख्तर फेल हो गया। और फिर मुझे बुला कर कहने लगे थे, "अख्तरे ! हमें तुमसे नौकरी नहीं करवानी। अल्लाह के फजल से घर में सभी कुछ है और यह सब तुम्हारा है। अब तुम ये जमीनें संभाल लो और छोड़ो पढ़ने-वढ़ने की बात को। मेरे तो अब अल्लाह-अल्लाह करने के दिन हैं। मुझसे नहीं होता ये जमींदारी का झगड़ा।"

कालेज में पढ़ने का मेरा शौक भी पूरा हो चुका था। सो मेरी तालीम खत्म हो गई और मैं जमींदारी के कामकाज में लग गया।

फिर एक और गुल खिला और नए सिरे से गांव में बगमां की बात चल निकली।

बट्टे का चौधरी तालेअखां बड़ा ओबाश किस्म का आदमी है। यद्यपि दिल का बुरा नहीं लेकिन ऐसा हठधर्मी और निडर है कि किसी बात पर अड़ जाता है तो किसी की परवाह नहीं करता।

न जाने बैंगमां उसकी निगाह पर कैसे चढ़ गई और चढ़ी भी ऐसी कि बिलकुल ही चित होकर रह गया। वर्ना उसने कभी किसी को तोहफे न भेजे थे। वह तो इस तबीयत का मालिक था कि कोई पसंद आ गई तो उसे कामकाज के लिए या किसी और बहाने घर पर बुला लिया। अल्लाह अल्लाह खैर सल्ला।··· लेकिन बैंगमां के मामले में तो वह अपने सारे हथकंडे भूल गया।

उसने तोहफों का तांता बांध दिया। आज रस की देग आ रही है। कल चौधरी तालेअ के बाग के सेब आ रहे हैं। इन तोहफों को देखकर सारे तिल्लांवाली में हंगामा मच गया। चाची पातां की जबान फिर हरकत में आ गई, "हाय बहन ! अल्लाह ही खैर करे ! इस तेली की ने तो उधम मचा रखा है। अब तो चौधरी तालेअ तक पहुंच हो गई है इसकी।"

यद्यपि बैंगमां ने दो चार चीजें वापस भी कर दी थीं लेकिन चौधरी तालेअ के आदमी जबरदस्ती चीजें फेंक जाते थे और गांववालियां जो तालेअ के बारे में कुछ न कह सकती थीं बैंगमां पर उल्टा इल्जाम धरतीं, "ये देखा तुमने चाची—चीजें इसलिए लौटाती है कि भरम कायम रहे। वैसे अंदर से मिली हुई है उससे।" "ए है" दूसरी कहती, "किसी से कहना नहीं बहन, रातें वहीं गुजरती है, छुप-छुप कर। सूबे मुंहफटने अपनी आंखों से देखा है उसे आधी रात के वक्त बट्टे को जाते हुए और बहन तोहफे वैसे ही तो नहीं आते मुफ्त में।"

फिर जब चौधरी दाऊद के हाथ तालेअ ने ब्याह का संदेश भेज दिया तो तिल्लांवाली के सभी भले लोग मुंह में उंगलियां दबा कर रह गए। गांव के बारे में गांव के बड़े-बूढ़े देर तक बातें करते रहे। तालेअ की इस हरकत पर और तो और चौधरी दाउद ने भी सिर पीट लिया। यूं कमीनों को मुंह लगाना और फिर तेलन को जो इन लफंगों के साथ रात गुजार चुकी थी और इतनी बेबाक और बेलगाम थी कि शर्मा के मुंह छुपाने के बजाए सिर उठा कर कहा था अगर कोई मर्द हो तो अकेले में आए यहां मेरे पास···

फिर बात मर्दों से निकल कर औरतों के हत्थे चढ़ गई···तौबा है। फिर तो इस कदर हाथ चलाए गए, नथुने सिकोड़े गए, इस कदर कानाफूसी हुई कि यूं महसूस होने लगा जैसे सारा गांव मक्खियों का छत्ता हो। लेकिन आज तालेअ की बात कौन रद्द कर सकता था। गांव के बूढ़ों ने बैंगमां की मां को बुला कर उसका पैगाम दिया। मगर वह बेचारी फटी-फटी आंखों से देखती रही जैसे मुंह में जबान न हो। और जब चौधरी दाउद ने जवाब के लिए कहा तो बोली, "मुझे क्या मालूम, बेगू जाने। वह क्या मेरे कहने में है। जो चाहती है करती है वह। उसी से पूछ लो।"

इस पर बैंगमां को बुलाया गया। पहले तो वह उन क्षुद्रों की तरफ देखे बगैर सुनती रही उनकी बातें फिर बोली, "यह नहीं हो सकता चौधरी, मैं तेली की हूं और तेली ही के घर बसूंगी। मुझे चौधरियों से क्या लेना-देना।"

इस पर तमाम महफिल में सन्नाटा छा गया। बैठे हुए क्षुद्र उसकी तरफ मुंह खोले हुए देख रहे थे और उनके बीच ब्राह्मणी इस तरह खड़ी थी जैसे गिरे पड़े घरौदों के बीच में चूने की कच्ची मस्जिद का मीनार हो।

चौधरी तालेअ जिद्द का बड़ा पक्का था। वह यह बेइज्जती बरदाश्त न कर सका। उसने कहला भेजा कि अच्छा अगर घर वाली नहीं बनती तो आकर हमारे यहां कामकाज में हाथ बटाए। लेकिन इस पर भी उसने टका सा जवाब दे दिया और कहलवा भेजा, "मैं तेलन हूं, कमीन नहीं।"

यह जवाब सुन कर चौधरी तालेअ आग बबूला हो गया और एक रोज उसके आदमी आए और ऐलानिया बैंगमां की मां को उठा कर ले गए और फिर पैगाम भिजवा दिया कि अगर बैंगमां चाहती है कि उसकी मां की इस बुढापे में बट्टे के चौक में बेइज्जती न हो तो दो दिन के अंदर-अंदर उसे ले जाने के लिए खुद बट्टे की चौधरियों के यहां पहुंच जाए वरना तिल्लांवाली की भी ईंट से ईंट बजा दी जाएगी।

यह पैगाम सुन कर तिल्लांवाली पर पहले तो सन्नाटा छा गया और फिर बातों का एक तूफान आ गया। हर कोई किसी न किसी से कुछ कह रहा था। हर शख्स घबराहट में हाथ चला रहा था। सभी परेशान और बेचैन थे। हर घर से तानों भरी आवाजें आ रही थीं। केवल बैंगमां का अकेला मकान था जिस पर शांति छाई हुई थी। ड्योढ़ी का दरवाजा उसी तरह खुला था। कोल्हू वैसे ही चल रहा था। बल्कि उसकी चराऊं-चराऊं ने घर की खामोशी को और भी गहरा बना दिया था।

दूसरे दिन सारे गांव वाले चारपाइयां डाल कर उस मैदान में बैठ गए जहां से बट्टे की तरफ रास्ता जाता है। मर्द उस रोज काम पर नहीं गए। मैदान में वे सब खामोश बैठे थे। हुक्के गुड़गुड़ कर रहे थे। निगाहों में फिक्र था। दरवाजों पर, खिड़कियों और गलियों में औरतों की जबानें कैंची की तरह चल रही थीं।

कुछ कहती थीं, "वह नहीं जाएगी। उसे अपनी मां की इज्जत का क्या पास। अपने पल्ले इज्जत होती तो किसी दूसरे की इज्जत का खयाल होता।"

कुछ कह रही थी, "ए है, उसे भला जाने में क्या उज्र होगा। चार दिन तालेअ के पास रह जाएगी तो क्या फर्क पड़ेगा उसके लिए। कहती थी तुम में कोई मर्द है तो अकेले में आए मेरे पास...अब देख ले मर्द के हाथ...खुद नहीं आया, उसे ही बुलाया है अकेले में। अब जाए न अकेले में मर्द के पास।"

"न बहन अकेले में नहीं। वहां तो खुदा झूठ न बुलवाए, सारा बट्टा होगा। चौधरी तालेअ की हठ से कौन वाकिफ नहीं।"

"जब न गई जब घर वाली बनाके बुलाया था उसने.... अब जाएगी...हां।"

"ऊंह! ये ऐसियां घरवाली बन कर नहीं जाया करतीं और सारा बट्टा होगा तो पड़ा हो। बहन इसके लिए क्या वह तो आदी है ऐसे मामलात की।"

"अब ऐसे ही वक्त गुजारेगी न चाची अब क्या है। तालेअ से इनकार करने के बाद अब भला कौन तेली होगा जिसे ब्याह का पैगाम देने की जरूरत होगी। तालेअ उसकी दुकान पर हल न चलवा देगा? उससे इंकार करने के बाद अब ये बसेगी कहां?"

मर्द चुप थे लेकिन उनके चेहरों पर चिंता के भाव थे और अमीरा, जानी, सरदारा तो सरसों के फूल की तरह डर के मारे पीले हो रहे थे।

फिर अचानक सूबा मुंहफट भागा-भागा मैदान में आया और चिल्ला कर कहने लगा, "बैल पर कपड़ों की गठरी रख कर अब वह मकान को ताला लगा रही है।" सूबे की यह बात सुन कर सबके कान खड़े हो गए।

न जाने सूबे की बात सुन कर मुझे क्या हुआ? जैसे तड़ाक से वह फोड़ा फूट गया हो। इस तड़ाक के साथ ही जैसे सब घबराहटें, हिचकिचाहटें दूर हो गई हों और मैं उसके मकान की तरफ भागा।

"तुम जा रही हो बेगी।" मैंने यों अनौपचारिकता से बात की जैसे कोई बात ही न हो। वह रुक गई। एक निगाह उसने मुझ पर डाली लेकिन उस वक्त मुझे यह अहसास न था कि मैं ब्राह्मणी के सामने खड़ा हू। जाने क्यों मैं उस समय यह अनुभव कर रहा था जैसे इन ब्राह्मणों की बस्ती में हम दोनों क्षुद्र थे।

"गांववाले मैदान में बैठे हैं।" मैंने उसका बैल हांकते हुए कहा। वह चुप रही और मेरे पीछे-पीछे चलने लगी। और मैं यूं छड़ी हाथ में उठाए बैल को हांकने लगा जैसे उसके साथ बैल हांक कर ले जाना हमेशा से मेरा काम हो।

फिर मुझे मालूम नहीं कि क्या हुआ? चारों तरफ से मक्खियों की भिनभिनाहट का शोर सुनाई दे रहा था। काली बर्र जूं-जूं कर रही थीं। मेंढक टर्रा रहे थे। टिड्डियां हाथ चला रही थीं। मुझे तो यह भी अहसास नहीं रहा था कि मेरे मियां जी भी उसी मैदान में बैठे थे और मां भी चाची के साथ वहीं खड़ी थी। मेरे आगे-आगे वह थी और वह यूं तन कर चल रही थी जैसे राम अपनी माता के लिये बनवास जा रहे हों और उसके पीछे मैं था और चारों ओर एक वीराना था। भिनभिनाता हुआ, चीखता-चिल्लाता हुआ वीराना...

अचानक वह रुक गई और मेरी ओर देख कर कहने लगी, "तुम?" जैसे उसने पहली बार मुझे देखा हो।

"मैं तुम्हें कच्चे खोह तक छोड़ आऊंगा! मैंने यूं कहा जैसे क्षमा याचना कर रहा था। वह चुप हो गई और रुक कर आगे चलने के बजाए मेरे पीछे-पीछे चलने लगी। कच्चे खोह पर पहुंचकर मैंने छड़ी उसके हाथ में थमा दी, "अच्छा, अब मैं जाता हूं।" मैंने उससे कहा और वह गौर से मेरी ओर देख रही थी जैसे हैरान हो।

फिर वह चलते-चलते रुक गई, "अख्तरे।" वह बोली, मेरा एक काम करोगे?,"

"क्या है?," मैंने धड़कते दिल से कहा।

"मुझे धीरकोट तक पहुंचा दोगे?"

"लेकिन तुम तो बट्टे जा रही हो।"

"हां।" वह बोली, "पर मैं अब गांव वापस नहीं आऊंगी। अकेली मां चली आएगी।

"वापस न आओगी!" मैं घबरा गया। न मालूम क्यों?

"बट्टे से मैं धीरकोट चली जाउंगी।" वह बोली, "पहुंचा दोगे मुझे। मुझे मालूम नहीं किधर से जाते हैं धीरकोट को।"

"कौन-सा धीरकोट?," मैंने पूछा।

"वह जहलमों वन के उपर वाला।"

"अच्छा," मैंने कहा, "कब?"

"आज बुध है" वह बोली, "हफ्ते को शाम के वक्त मैं बट्टे से दाड़ी के टेशन पर आ जाऊंगी।"

"अच्छा।" मैंने कहा।

उसने मुस्करा कर मेरी तरफ यूं देखा जैसे मस्जिद का मीनार सहन में गिर कर मंबर की तरफ देख रहा हो।

हफ्ते की शाम को स्टेशन पर वह चुपचाप बैठी थी। मुझे देख कर उसने सिर्फ इतना कहा, "तुम आ गए अख्तरे।" और फिर खामोश हो गई।

वहां से गाड़ी में बैठ कर हम पिंडी गए। रात मुसाफिर खाने में काट कर अगले रोज बस में बैठ कर हम मरी जा

वह लहर

—अरुणा कपूर

अठखेलियां करती
किनारों का बंधन तोड़
लोटती धरती की छाती पर
रेतीली मिट्टी
अपनी बाहों में समेट
मचलती-मनचली लहर...
दिखावा करती
आह्लाद और प्रेम का
विलीन हो जाती नदी के गर्भ में
फिर...
लपकती शोर करती
आकाश छूने को उछलती
तड़फकर गिरती
पागल लहर...
खेलती लकड़ी के जानदार लट्ठों से
सुकुमार शवों से
लील जाने को तत्पर सब कुछ
भयानक वह लहर
अपने अनेक रूपों को समेट
समुद्र की छाती से लग
चुपचाप सो जाने की
कामना लिए
बनती मिटती सिर धुनती
नदी की गिरफ्त में सुबकती
उदास वह लहर....
हाय ! अभागी वह लहर ।

पहुंचे । मरी पहुंच कर मैंने उससे कहा, "धीरकोट किस के पास जाओगी बेगू ।

"जाऊंगी ।" वह दबी जबान से बोली, "उसके पास जाऊंगी जिसकी मैं अमानत हूं ।

"अमानत ।" उसकी बात मेरी समझ में न आई । उसकी बात समझने की मुझे फुरसत भी होती ? मैं तो अपनी बात में उलझा हुआ था ।

"बेगु । एक बात कहूं, मानोगी ?" मैंने कहा ।

उसने मेरी तरफ देखा ।

"यहां चार दिन मेरे पास रह जाओ । रहोगी ?"

अचानक उसके होठों की मुस्कराहट फीकी पड़ गई और क्षूद्रों के बीच ब्राह्मणी तन कर खड़ी हो गई, "तुम भी ?" वह बोली, और इससे पहले कि मैं कुछ कहता वह हंसी और कहने लगी, "चलो तुम भी कर लो मौज अपनी चार दिन । इससे क्या होता है । चलो कहां रखोगे मुझे ।"

उसकी 'हां' ने मुझे यह भुला दिया कि उसकी हंसी में कितनी धार थी, कितनी तलखी थी । मैं उसकी गठरी उठा कर भागा कि किसी होटल में कोई कमरा ले लूं । मैं इस कदर खुश था कि वह भी मेरी नजर से ओझल हो गई थी ।

खुशकिस्मती से उसी सड़क पर एक होटल में हमें कमरा मिल गया । और हम वहां जा रहे । खा-पी कर हम निपटे तो उसे पलंग पर बैठा कर मैं नीचे फर्श पर उसके कदमों में बैठ गया और हम दोनों खिड़की से बाहर सड़क का तमाशा देखने लगे ।

मैंने कहा, बैगी । तू इतनी जल्दी बेगी से बैगमां कैसे बन गई ?,"

वह हंसी ।

"याद है तू हमारी गेंद उठा कर लाया करती थी !"

"हूं ।" वह बोली ।

"फिर जो शहर से आकर मैंने देखा तो बेगी एकदम से बैगमां बन गई थी और मैं भौचक्का रह गया था ।"

"हां ।" वह बोली, "तुम से तो बोला तक न जाता था ।'

"बोला तो अब भी नहीं जाता बैगमां । तुम्हारी कसम ।"

"तो न बोलो ।" वह बोली, "मुझे ठहरा तो लिया है यहां और क्या चाहते हो ?"

मेरा दिल भर आया, "कैसे न बोलूं । कब से मेरी आरजू थी कि तुम्हारे पास रहूं, तुमसे बातें करूं । कुतर-कुतर बातों का ढेर लगा दूं ।"

"तो लगा दो ।" वह हंसी और फिर खामोश हो गई ।

"एक बात पूछूं ? मैंने उसकी तरफ देखा ।

"पूछ लो ।" वह बोली ।

"उन गुंडों ने क्या किया था अमीरा, जानी और सरदारा ने ?"

"गुंडे ?" उसने नफरत से कहा, "वो क्या मर्द हैं ?"

"और क्या ?" मैंने पूछा ।

"खिलौनों से खेलने वाले क्या मर्द होते हैं ?" उसकी आवाज में बला का तंज था जैसे जहर हो ।

देर तक हम खामोश रहे । फिर मैंने उसे छेड़ने के लिए पूछा "औरत क्या होती है बैगमां ?"

"कोई मर्द हो तो खुद ही समझ लेता है कि औरत क्या होती है?" यह बोली ।

"तो क्या मर्द कोई नहीं होता आजकल?"

संबंध

—उषा मेहरा

संबंध रक्त का नहीं होता ।
संबंध वक्त का नहीं होता ।

संबंध बहुत नाजुक चीज़ है ।
जिसमें भावों के बीज हैं ।

संबंध अच्छे बंधनों से युक्त ।
रेशमी डोरों से संयुक्त ।

व्यवहार का बाह्य रूप ।
संबंध का यही स्वरूप ।

संबंध बंधनहीन है ।
सभी में विलीन है ।

संबंध को जोड़ना आसान है ।
संबंध को निभाना टेढ़ी खीर है ।

संबंध यहीं विशाल है ।
संबंध का यही हाल है ।

"ऊंह । कोई-कोई होता है ।" वह बोली ।

"और ये जो इतने सारे हैं ।" मैंने खिड़की से बाहर सड़क पर चलते हुए लोगों की तरफ इशारा करके कहा ।

बाहर सड़क पर औरतें और मर्द एक दूसरे में गुड-मुड हो रहे थे । औरतों के मुंह पाउडर, सुर्खी और काजल से सजे हुए थे । उनके पिंडे गोया फूट-फूट कर कपड़ों से बाहर निकल रहे थे । आंखें एक दूसरे से टकरा रही थीं और बाहें यूं लटकी हुई थीं जैसे जिसका जी चाहें थाम ले और मर्द यूं बेवकूफ बने आंखें फाड़-फाड़ कर देख रहे थे जैसे होश खो चुके हों ।

"और ये जो इतने सारे हैं ।" मैंने उनकी तरफ इशारा करके कहा ।

"बेचारे ।" उसने मुंह बनाया ।

"और ये औरतें ?" मैंने उससे कहा ।

"औरतें ?" वह हंसी, "जो मुंह से कहे हम से खेलो वह औरत नहीं होती ।"

"और तुम ? तुम क्या औरत हो बेगी !" मैंने उसकी तरफ देखा । वह झेंप गई । मैंने पहली बार उसे यूं झेंपते देखा । फिर वह खामोश हो गई ।

कुछ देर के बाद अचानक वह बोली, "अख्तरे ! एक बात पूछूं ?"

"पूछो ।" मैंने कहा ।

"जब इस शहर में इतनी रंगदार गुड्डियां हैं तो..." फिर वह रुक गई ।

"तो फिर क्या ?"

"तो फिर तुमने मुझे क्यों रोक लिया है यहां ?"

"मैं समझा नहीं तुम्हारी बात ?" मैंने घबरा कर कहा ।

"चलो, क्या करना है समझ कर ।" वह बोली, "अब तो ठहर ही गई हूं । अब क्या है ?"

रात को जब मैं फर्श पर कंबल बिछा रहा था तो वह घूर-घूर कर मुझे देख रही थी ।

"क्या कर रहे हो अख्तरे ?" उसने पूछा ।

"अपना बिस्तर बिछा रहा हूं ।" मैंने जवाब दिया ।

देर तक मैं इंतजार करता रहा कि वह क्या कहती है लेकिन वह यूं चुप हो गई जैसे किसी गहरी सोच में खो गई हो । आखिर बहुत देर के बाद जब मैं सोने के लिए आंखें बंद किए पड़ा था तो वह अचानक बोली, "अख्तरे ।"

"हां ।" मैंने कहा ।

"आखिर तुमने मुझे यहां रोका क्यों था ?"

मैंने कहा, "मेरा जी चाहता था...बस और क्या..."

"अच्छा । जी चाहता था ?·· वह बोली ।

"हां ।" मैंने कहा, "मेरा जी चाहता है कि तुम्हारे साथ रहूं ।"

',तो फिर रहो न साथ ।·· वह बोली ।

"साथ तो हूं ।·· मैंने कहा ।

"अच्छा" वह हैरत से बोली, "मुझे मालूम न था ।" और फिर खामोश हो गई। अगले दिन वह मुझसे बहुत ही खुल गई जैसे एक बार फिर वह बैंगमां से बेगी बन गई हो । वह बिल-कुल ही गिर कर मंदिर से घरौंदा बन गई थी । फिर वह बड़े रहस्यमय ढंग से कहने लगी, "अख्तरे ! मैं किसी की अमानत हूं ।"

"अमानत ?...और वो थानेदार और सरदारा और वो बट्टे वाला तालेअ, वो सब ?" अनजाने में मेरे मुंह से न जाने क्या-क्या निकल गया ।

"पागल !" वह हंसी, "धारे से कुत्ते पानी पी लें तो क्या वह नापाक हो जाता है, अख्तरे ?" उसकी बातको सुन कर मैं सोच में पड़ गया ।

"अच्छा," मैंने कहा, "और यह जो धारा है," मैंने सड़क पर चलती हुई भीड़ की ओर इशारा करके कहा ।

"यह ?" उसके होंठ नफरत से उभरे और देर तक वह भीड़ की ओर देखती रही "बेचारी" उसने झूरझुरी ली और मुंह मोड़ लिया ।

"बड़ी नफरत है तुम्हारे दिल में इसकी तरफ से ?" मैंने पूछा ।

"नहीं !·· वह बोली, "नफरत तो नहीं.. और ये तो मेमें हैं, औरतें नहीं । अख्तरे औरतें तो गांवों में होती हैं और वहां भी कोई-कोई ।"

उस रोज शाम को मैं एक दूकान से एक फुलदार गाउन, नाखूनों की पालिश, होठों की सुर्खी और पाउडर खरीद कर ले आया । फिर जब हम खिड़की के पास बैठे हुए थे तो मैंने कहा, "बेगू ! मेरा एक कहा मानोगी ?'

"क्या है ?" वह बोली ।

"मेरा जी चाहता है तुम्हें मेम बनाऊं ।"

"वो कैसे ?" वह हंसी ।

मैंने वह सारा सामान उसके सामने उलट दिया ।

"ना भाई ना—यह न करो ! वह नफरत से पीछे हट गई ।

"मेरे लिए बैंगमां ।·· मैंने मिन्नत की, "तुम्हारा क्या बिगड़ता है ?"

"अच्छा !" वह बोली, "तुम्हारी खुशी—जो करना है कर लो तुम ।·· और फिर यूं बैठ गई जैसे पत्थर की बनी हो ।

पहले मैंने उसे गाउन पहनाया । फिर पाउडर मला । नाखून रंगे और हाथ से जब मैं उसके लिपस्टिक लगा रहा था तो वह बोली : तुमने मुझे डायन बना दिया अख्तरे !

वह उस गाउन में अजीब-सी लग रही थी और अपने आप को आईने में देख कर हंसे जा रही थी और मैं हर जांबिये से उसे देख रहा था । हर कोण से ।

"क्या कर रहे हो तुम । मुझे तो अब तुमसे डर आने लगा है ।·· वह बोली ।

"क्यों ?" मैंने कहा : "अभी से उकता गई हो क्या ।"

"नहीं, उकताई नहीं, डर आने लगा है तुमसे । अब मैं नहीं रहूंगी यहां ।"

"लो बेगी, तुमने चार दिन मेरे साथ ठहरने का वायदा किया था ।"

अनायास ब्राह्मणी फिर खड़ी हो गई : "नहीं !" वह बोली उसके चेहरे पर फिर गंभीरता आ गई, "जब मैं कुछ और समझी थी लेकिन अब मैं तुम्हारे पास नहीं ठहरूंगी । मैं सुबह चली जाऊंगी !"

"सुबह ?" मैंने हैरानी से पूछा ।

"हां" कहते हुए उसने अपने होंठ आईने से लगा दिए । वहां सुर्खी का एक धब्बा लग गया ।

मैंने बात बदलने के लिए शोर मचाया, "वो देखो धब्बा पड़ गया आईने पर । न जाने ये सुर्खी लगाने वाली औरतें क्यों लगाती हैं सुर्खी, जब भी ये किसी को चूमती होंगी तो निशान रह जाता होगा ।"

वह हंस पड़ी, "मुझे क्या मालूम ?"

"तुमने भी किसी को मोहब्बत से चूमा है बैंगमां ।" मैंने पूछा ।

वह फिर हंसने लगी : "तुम्हें पता है अख्तरे । हम तेली की किसी को मोहब्बत करें तो उसका माथा चूमती हैं । उसकी इज्जत करती हैं न इसलिए...इज्जत न हो तो मोहब्बत नहीं होती ।··

उसे खुश करने के लिए उस रात मैंने बहुत शोर मचाया लेकिन वह चुप रही जैसे फिर से ब्राह्मणी बन गई हो । अगले दिन जब सुबह-सवेरे मैं जागा तो उसका बिस्तर खाली था वो गाउन, सुर्खी और पाउडर फर्श पर बिखरे पड़े थे और वह जा चुकी थी । मैं भागा-भागा नीचे होटल में गया । मुलाजिम से पूछा ।

"हां ।" वह बोला—"वो चली गई । सुबह-सवेरे ही चली गई । पौ फटने से पहले ।" यह कह कर वह मेरे माथे की तरफ देखकर हंस पड़ा । उसकी हंसी उपहासात्मक थी जैसे वह मेरा मजाक उड़ा रहा हो । मैं घबरा गया । न जाने मेरे माथे पर क्या लगा है । मैंने सोचा और भागा-भागा आईने के सामने जा खड़ा हुआ ।

मेरे माथे पर लिपस्टिक लगे होठों का निशान था ।

बांस का पुल

अमिताभ सिंह

बांस का वह पुल
सेतु है–मेरे बचपन और
आज के बीच
खींचता मेरी याद को उस पार तक,
जहां तक कल्पना भी छोड़ देती थी
मेरा साथ।

याद आते हैं वे पल
जब बचपन में मां से रूठकर
नदी के तीर पर बैठकर,
निहारा करता था
उस बांस के पुल को,
एकटक दृष्टि से,
और घंटों बैठा रह जाता था।
चारे का बोझा लादे कुछ लोग
काम पर गए, काम से लौटे
थके किसान,
छतरी बगल में दबाए,
मुंह में पान चबाए,
गांव के मास्टरजी,
अक्सर दिखते थे मुझको।
और फिर ममता से विकल
कपोलों पर निश्छल मुस्कान समेटे,
मां को अपनी ओर आता देख
मुंह बनाकर भाग जाया करता था
उस बांस के पुल से उस पार,
और मां न जाने क्यों मुस्कराती,
नेह और ममता के आंचल
को लहराती,
दौड़ती उसी बांस के पुल पर,
बढ़ती थी मेरी ओर,
और मैं अपने गुस्से को भूल,
जा छिपता था मां के आंचल में
मां अपने नयनों से
गोला कर देती थी मेरे अधरों को!

नए हस्ताक्षर

और मैं छलकती ममता को,
अपने नन्हें हाथों से रोकने की
विफल कोशिश करने लगता
मेरे नन्हें हाथों पर लगे आंसुओं को,
मां पोंछ देती थी अपने चुंबनों से,
उसी बांस के पुल पर!
आज भी जब गांव जाता हूं
उसी बांस के पुल पर खड़े होकर,
मां की याद में भर-भर
आता है मन!
सोचता हूं—अभी लहराएगा
वह नेहभरा आंचल
हवा के कंधों से सरकता हुआ
लपेट लेगा मुझे!
ढक लेगा मुझे
अपनी छरहरी छांव से

अभी-अभी
दौड़ती आएगी मां
मुझे पकड़ने के लिए
इसी बांस के पुल पर!
पर शायद ऐसा नहीं होगा!
क्षत-विक्षत हो चुका है वह
बांस का पुल
भौंचक-सा देख रहा है समूचा गांव
सीमेंट के पुल की रखी जा रही है
आधार शिला!
मैं एक कोने से खड़ा सोच रहा हूं–
मां का आंचल अब कभी
नहीं लहराएगा
बांस के पुल पर
दूर छूटा हुआ बचपन अब
उस पर हिचकोले नहीं खाएगा।

सार्थक हो जाते हुए

—मृदुला अरण

नहीं, मैं मोहताज नहीं हूं
तुम्हारी मनुहार की...
मत सोचो कि मैं कांप जाऊंगी
इस भयावह स्थिति में
हृदयहीनता देखकर,
दिशाओं को बाहों में महसूस करना
और पहाड़ों की ऊंचाई को
आदर्शों की महानता से जोड़
हृदयंगम करना जब जाना था
तभी यह भी जाना था कि
गरजती हवाओं की बहती ताकत को
मुट्ठी में भींच उसी निर्विकार भाव से
छोड़ा जा सकता है
जैसे-पहाड़ों से बहता झरना
नीचे झील में जाकर
एकाएकार हो जाता है...
झरना तभी तक झरना है
जब तक पहाड़ों के टेढ़े मेढ़े रास्तों में
जगह बना बहता चला जाता है
नीचे गिरते ही तो
उसे नदी हो जाना होता है
और अपने विशाल स्वरूप के बावजूद
झील की स्थिरता
किसी आत्ममर्यादित गौरव
या समुद्र की महनता से, ज्यादा गहन होती है
किंतु आस्था के घने जंगल यकायक ही
चटखने लगते हैं
बेतरतीब बिखरे हुए किसी कड़वे सच की
जांच पाकर !
दुश्चिंताओं से परे...उन्मुक्त...
अपनी स्वतंत्र कल्पनाओं के पर फैला
आकाश में उड़ पाना
क्या किसी नियायत से कम है !!
विवशता-शायद
सीटी बजाकर बेखौफ उड़ जाने वाली
किसी मासूम चिड़िया का नाम है
तभी तो दुनिया के भौतिक सुखों की गिनती में
मुझे शामिल न कराने की तुम्हारी चालाकी
नहीं रोक पाती मुझे
पूरी स्वतंत्रता के साथ
अपनी भावनाओं का महल बनाने से
और आंखों में छलक आए
परमतृप्ति के आंसुओं के बावजूद
किसी अनाम सुख की नरम स्वादिष्ट रोटी को
कौर...कौर...खाने से !
हां, आज यह स्वीकार करूंगी कि
मैं चुनौती दे रही हूं !
पर शपथ नहीं लूंगी
बस-यह मेरे मन का विश्वास है
जो मेरे भीतर ही रहेगा
नहीं टूटने देगा मुझे
और एक दिन तुम्हें भी मानना पड़ेगा
मैं महज टालते रहने के लिए नहीं हूं
अपने आप में एक बूंद सा अस्तित्व जितना ही होगा
अनंत प्यास से भरी आंखों को
क्षणांश की उम्मीद से भरी चमक लौटा सकता है
और किसी टूटे हुए निराश मन की
क्षणभर की भी जिंदगी के प्रति ललक
मुझे अपने होने की
सार्थकता महसूस करने के लिए
बहुत...बहुत काफी है !!

गोविंद मिश्र से बातचीत

एक लेखक में थोड़ा गधापन भी होना चाहिए !

लेखन के लिए आपने कहानी या उपन्यास विधा को ही क्यों चुना, कविता को क्यों नहीं ? विधा के इस चुनाव के पीछे क्या आप कोई विशेष सुविधा महसूस करते हैं ?

यह तो शायद इत्तफाक की बात होती है कि लेखक किन विधाओं से टकराता है। लेकिन शुरू में टटोलता तो शायद वह सब विधाओं को है। मैंने शुरू में कविताएं भी लिखी, लेकिन धीरे-धीरे आपको लगने लगता है कि आपके व्यक्तित्व की किसी एक खास विधा से ताल-मेल बैठ गई है। यह नहीं कि वह विधा आपको आसान लगने लगी है। मसलन गद्य में आप यथार्थवादी ज्यादा हो सकते हैं, गद्य की जो 'रिद्म' है वह चीजों को थोड़ा फैलाकर देखने में ज्यादा मदद करती है। मतलब व्यक्तित्व जिस कोण से लेखन की तरफ झुका है, उधर जो विधा पड़ती है। मैं स्वयं को उपन्यास और कहानी के ज्यादा करीब पाता हूं।

● सुना था आप दूसरों की कविता बड़े चाव से पढ़ते हैं और जैसा कि अभी आपने बताया कि शुरू में आपने कविताएं भी लिखीं फिर उन्हें प्रकाशित क्यों नहीं करवाया ?

कविता में जो बात होती है, वह कहानी में मुझे नहीं मिल पाती। मसलन भावना का पूरा वेग और वेग का पहला 'इम्पैक्ट' जो कविता में सीधा-सीधा आता है वह शायद किसी भी विधा में नहीं आता। इसलिए कविता पढ़ना अच्छा लगता है। रही बात अपनी कविताओं के छपवाने की तो मैं नहीं समझता कि वे बहुत अच्छी कविताएं हैं। मैं समझता हूं कि कुछ ऐसी चीजें होनी चाहिए जिन्हें आप सिर्फ अपने लिए रखें।

● इसका मतलब 'प्राइवेसी' को आप जीवन में काफी महत्व देते हैं।

दरअसल लेखक की 'प्राइवेसी' कुछ रहती नहीं। लेखक की हर चीज सार्वजनिक हो जाती है, यहां तक की उसकी जिंदगी, उसकी परेशानियां और उसके प्रेम प्रसंग भी। अब आप ही बताइए क्या बचता है लेखक का 'प्राइवेट !'

● व्यक्तिगत प्रेम प्रसंग भी तो साहित्य बन जाता है। जैसे मैन्सफील्ड की डायरी, जर्नल या काफ्का के प्रेम प्रसंग आदि।

व्यक्तिगत चीजें भी साहित्य बनती हैं, साहित्य ही होती हैं। इसके अलावा लेखक के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसके प्रेम-प्रसंग, डायरी, जर्नल्स आदि भी महत्वपूर्ण होते हैं। इनमें लेखक अपने को ज्यादा खोलता है। लेकिन अभी तक मुझे यही लगता रहा है कि जब तक वह सिर्फ मुझे, मेरे लेखक या मेरे साहित्य को जानने में मदद करता है, तब तक वह बहुत महत्व का नहीं है। वह कितना साहित्य है, कितना सिर्फ व्यक्तिगत है···यह मैंने अभी तक नहीं सोचा।

प्रस्तुति : विनय दास

● यहां मैं जानना चाहूंगा कि क्या आपके जीवन का कोई ऐसा निजी प्रेम प्रसंग है जिसने आगे चलकर किसी रचना की शक्ल ली हो ?

दरअसल मैं प्रेम को बड़ी अहमियत देता हूं। यह जीवन का शायद ऐसा अनुभव है जैसा और कोई अनुभव नहीं होता। यह आपकी शक्तियों, और कमजोरियों दोनों का अहसास कराता है। मतलब आपको सीधे-सीधे जिंदगी के सामने ला खड़ा करता है। सार्त्र स्त्री से संबंध को इसलिए महत्व देते थे क्योंकि वहां संप्रेषण की भाषा ही कुछ और होती है। जो इतना जोरदार अनुभव हैं वह आपके लेखन में आएगा ही। मेरे भी लेखन में आया है —'उतरती हुई धूप' उपन्यास में ही।

● शायद 'खुद के खिलाफ' कहानी में भी।

यह तो उस कहानी की तारीफ हो गई। पर सच बात यह है कि वह मेरा व्यक्तिगत प्रेम प्रसंग नहीं था।

● मुझे लगता है कि आपके उपन्यास 'उतरती हुई धूप' में प्रेम का अत्यंत सामान्यीकरण हो गया है। इस विषय पर कुछ कहेंगे।

हो सकता है। क्योंकि आदमी जीवन के दूसरे अनुभवों से जितनी आसानी से तटस्थ हो सकता है वैसे प्रेम के अनुभवों से नहीं। लेखक जहां अपने अनुभवों से हटने लगता है वहीं से प्रेम का सामान्यीकरण शुरू हो जाता है। 'उतरती हुई धूप' मैंने इस

खयाल से लिखा भी नहीं था। मैंने उस उपन्यास में ज्यादा मेहनत भी नहीं की। दरअसल प्रेम जैसे विषय पर लिखना बहुत कठिन है और बहुत आसान भी।

● निर्मल वर्मा की कहानियां, अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' आदि रचनाओं के प्रेमानुभव काफी व्यक्तिगत किस्म के लगते हैं। फिर भी उन अनुभवों में आप हिस्सेदारी कर सकते हैं और नहीं भी कर सकते ?

मुझे लगता है कि लेखक की निहायत व्यक्तिगत चीजें पाठक के लिए ज्यादा दिलचस्पी की नहीं हो सकतीं। पाठक के लिए वही चीजें अच्छी होंगी जहां उसे लगे कि वह अपने अनुभवों से गुजर रहा है। इसे आप यूं भी कह सकते हैं कि प्रेम को आप एक विशिष्ट कोण से उठाएं जो अभी तक जाना नहीं गया था, यदि जाना भी गया था तो इतनी शिद्धतता से महसूस नहीं किया गया था। फिर भी उसे लेखक का प्रेम प्रसंग नहीं लगना चाहिए।

● मैं पात्रों के चरित्र व उनके निजी संसार की बात कर रहा था। जैसे 'नदी का द्वीप' के भुवन और रेखा तथा निर्मल वर्मा के 'लाल टीन की छत' की नायिका। वे अपने ढंग के हैं। उनका अपना एक संसार है। जबकि अपने यहां अक्सर खास-तौर से प्रेम संबंधी रचनाओं में पात्रों के नाम भर बदलने से पुरानी रचना नए नाम से चल जाती है ? इस विषय पर कुछ कहेंगे।

शायद ठीक है यह बात। दरअसल सही अर्थों में अभी मैंने न प्रेम उपन्यास लिखा है न प्रेम कहानी। 'हुजूर दरबार' के बाद एक उपन्यास में ऐसी ही विषय वस्तु उठाने की सोचता हूं। पर मुझे शक है कि जिस अनुभव से मैं गुजरा हूं वह वैसा बन पायेगा। क्योंकि उपन्यास लिखने में हमेशा मुझे एक लालच होने लगता है, अपनी चीजों को फैलाकर देखने का। यों प्रेम का स्वरूप भी आजकल काफी बदल गया हैं। हो सकता है··· वह आए।

● अक्सर यह देखा गया है कि लेखक अपनी हर ताजी रचना में एक ही परिवेश को थोड़ा फेर-बदल के साथ प्रस्तुत करता रहता है, जिससे वह अच्छी तरह से जीवन में परिचित होता है। मसलन निर्मल वर्मा, राजकुमार। किन्तु आपने अपने हर उपन्यास में अलग-अलग परिवेश और उस परिवेश में सांस लेते लोगों की मानसिकता आदि को अत्यंत सूझ-बूझ के साथ उठाया है। क्या आपको नहीं लगता कि लेखक के अनुभवों की अपनी एक सीमा होती है !

जरूर होती है। मेरी भी होगी। लेकिन इस सीमा का अतिक्रमण भी किया जा सकता है। मेरी कोई ऐसी पूर्व योजना नहीं होती कि अलग-अलग विषय उठाऊं ही लेकिन नए-नए परिवेश या नए सवालों से जूझना अच्छा लगता है। बुनियादी सवाल यह है कि लेखक उस अनुभव में, चाहे वह खुद के बाहर का हो, कितने गहरे वह उसमें उतर सका है। उपन्यास में सवाल अनुभव की व्यापकता, कई आयाम, पेचीदगियों, उलझनों आदि का भी हो जाता है। फिर मैंने आज तक ऐसा कोई परिवेश नहीं लिया जिसको मैंने करीब से न देखा हो। ईश्वर की मेहरबानी कहिए कि बचपन से अब तक अलग-अलग तरह की जिंदगियों के बीच से गुजरना हुआ है।

● आपका यात्रावृत्त 'धुंध भरी सुर्खी' को पढ़ते हुए कहानी का भी स्वाद मिलता है। कहानी और यात्रावृत्त (यात्रा संस्मरण) में क्या आप कोई फर्क नहीं महसूस करते ?

यह सही है कि मेरे यात्रा संस्मरण कहानी जैसे है, पूरी किताब उपन्यास का अंदाज लिए है। किंतु इसमें मैं एक फर्क महसूस करता हूं कि यात्रा में यथार्थ बिलकुल वही है जो आप देखते हैं या जिस व्यक्ति के बारे में आप जितना जानते हैं, उतना ही होता है बस ! जबकि कहानी में यथार्थ एकदम वह नहीं होता है जिसे साहित्य अपने लिए उठाता है···स्ट्रक्चर्ड रियल्टी या फार्मगत यथार्थ।

● आपने गांव के जीवन पर भी कहानियां लिखी हैं। मसलन 'कचकौध' और 'ज्वालामुखी'। गांव की कहानी लिखते समय आप भाषा के सवाल को, खासतौर से उस क्षेत्र की भाषा की जहां के आप पात्र चुनते हैं, कितना महत्व देते हैं ?

गांव के अनुभव पर बहुत तो नहीं लिखा, यह भी कहने की स्थिति में नहीं हूं कि उस परिवेश की भाषा को कितना महत्व देता हूं। वे चरित्र आते हैं तो उनकी अपनी भाषा भी—जिसमें न केवल वे बोलते हैं बल्कि वे सोचते भी हैं—आनी ही चाहिए। दरअसल वे चरित्र और वह भाषा अलग-अलग चीजें नहीं होतीं। आंचलिक कहलाए जाने के डर से घबराता नहीं। मैं सोचता हूं कि हिंदी में अपनी एक तरह की सर्जनात्मक उर्जा आंचलिक भाषा और मुहाबरों को लाने से जबरदस्त ढंग से आ सकती है। यह ध्यान जरूर रखता हूं कि यह लेखक की तरफ से लादा हुआ न लगे और पात्रों की स्वाभाविकता भी खत्म न हो।

● आपने 'धांसू' कहानी संग्रह में 'अन्त:पुर' कहानियों की अपनी जानी-पहचानी जमीन छोड़ एक नई जमीन की तलाश की है—वह है राजनीति की। क्या आप इसके पहले जीवन पर राजनीति का दबाव नहीं महसूस करते थे ?

क्यों नहीं करता था। लेकिन अक्सर उन बातों को तात्कालिक समझ कर छोड़ देता था। किन्तु मैंने देखा कि सत्ता के बदल जाने के बाद लोग चरणों जैसा व्यवहार करने लगते हैं इस एक बात से ही मुझे काफी धक्का लगा। क्या आज का आदमी इस हद तक गिर सकता है ? 'धांसू' कहानी की तल्खी यही परेशानी है और ऐसा भी लगा कि राजनीति हमारे जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन गई है···इसलिए 'धांसू' कहानी संग्रह की दूसरी कहानियां भी···।

● राजनीतिक कहानियों के साथ एक बहुत बड़ा खतरा जुड़ा रहता है—कहानी के तात्कालिक बन जाने का या राजनीति की ऊपरी हलचलों में फंस जाने का। इस खतरे से आप कहां तक चौकन्ने रहते हैं ?

हां, इन कहानियों में तात्कालिक होने के साथ एक बहुत बड़ी सीमा भी होती है। इनमें वह गहराई भी नहीं आ पाती है। यह खतरा मन्नू भंडारी के ताजा उपन्यास 'महाभोज' में साफ उभरा है। वैसे मैं इन खतरों से चौकन्ना-वौकन्ना कुछ नहीं रहता। वैसे शुद्ध राजनीतिक चीजें भी लिखने का विषय बन सकती हैं बशर्ते हम उन चीजों को अंदर से जाने, वहां की मानवीय स्थितियां, त्रासदी, नियतियां और उन्हें उभारें। इन कहानियों को लिखते समय मैं चौकन्ना नहीं था। दरअसल मैं सोचता हूं कि एक लेखक में थोड़ा गधापन भी होना चाहिए। अगर उसमें वह थोड़ा गधापन नहीं है तो वह लेखक का काम नहीं कोई और काम करता होगा।

● लेखक के इस 'गधेपन' को थोड़ा विस्तार दें ?

मेरा मतलब जीवन में जो चतुर और सफल लोग हैं, उनके मुकाबले लेखक थोड़ा दूसरे किस्म का प्राणी होता है। आजकल के जमाने में जहां तक वह चतुराई का इस्तेमाल नहीं करता है वहां तक वह गधा है। इस गधेपन को मैं अपने पास रखना चाहूंगा।

● यदि हिंदी में "भारत-भारती" की चर्चा छोड़ दें तो अपने यहां उसके बाद किसी रचना या रचनाकार से समाज और राजनीति को कभी कोई खतरा नहीं महसूसा गया, इसके पीछे आप क्या कारण देखते हैं ?

लेखक से या उसकी रचनाओं से यहां क्या किसी भी देश में राजनीति और समाज को कभी खतरा नहीं रहा। हां, फ्रांस की बात थोड़ी अलग है—वहां एक परंपरा इसकी चली आ रही है। यह एक तरह से उनकी शान है कि लेखक को राष्ट्रपति के बराबर तरजीह दी जाए। हमारे यहां तो लेखक हमेशा दरबारी रहा है।

● हां, आपने ठीक ही कहा है। अपने यहां लेखकों की यह दरबारी परंपरा बिहारी से होती हुई भगवती चरण वर्मा और फिर श्रीकांत वर्मा तक आती है। दरबारियों को पालने-पोसने के लालच से अशोक बाजपेयी जैसे समर्थ रचनाकार भी अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं। खुदा जाने लेखकों की यह चाटुकारिता कब खत्म होगी ?

हां, आपके सवाल में ही मेरा जवाब निहित है।

● समकालीन समीक्षा पर कोई टिप्पणी करना चाहेंगे ?

इस वक्त सबसे गया-गुजरा नजारा हिंदी समीक्षा का है। मेरा यह मतलब नहीं कि अच्छे समीक्षकों की कमी है। मतलब हमारे यहां समीक्षा में उतावलापन, निर्णय देने की बेताबी, गैर ईमानदारी और खेमेबाजी जैसे तत्वों का बाहुल्य है। मेरे विचार से निर्णय देने वाले आप कोई नहीं होते आप केवल यह बता सकते हैं कि यह कैसा असर डालता है या संप्रेषित करता है···बस।

● लेकिन इधर मलयज, अशोक बाजपेयी और रमेशचंद्र शाह आदि ने तो काफी रचनात्मक ढंग से समीक्षाएं की हैं। खासतौर से "पूर्वग्रह" में।

हां, वे अच्छी समीक्षाएं हैं। लेकिन "पूर्वग्रह" वाले एक दूसरी चीज के शिकार हैं, उनका बहुत सीमित दायरा है। बहुत ही "एलिटिस्ट" इसलिए वहां न तो हिंदी का प्रतिनिधि साहित्य आ पाता और न ही सभी बातों पर बहस की स्थिति पैदा हो पाती है। निर्मल कुमार का दो खण्डों में प्रकाशित उपन्यास "बिना उद्गम का स्रोत" कई मामलों में विशिष्ट था···"पूर्वग्रह" जैसी पत्रिका को उसका नोटिस लिया जाना चाहिए था लेकिन नहीं लिया गया।

● आपने महेंद्र भल्ला के उपन्यास "दूसरी तरफ" की समीक्षा की थी, वह भी किताब की राह से गुजरते हुए। क्या आप वैसी ही समीक्षाएं पसंद करते हैं ?

शायद हां, लेखक चाहता है आप उसकी आलोचना करें। लेकिन आपका रवैया आलोचनात्मक होते हुए भी किताब के साथ, उसकी सीमाओं के साथ सहानुभूति भरा होना चाहिए··· सहानुभूति लेखक के साथ नहीं, किताब के साथ··दूसरे आज जो इस तरह की खेमेबाजी है कि हमारे अलावा लिखा गया साहित्य, साहित्य ही नहीं है···यह तो खत्म होना ही चाहिए साहब···।

● पिछले दिनों मैक्समूलर भवन में अज्ञेय की "भवंती" आदि किताबों के संदर्भ में भारतीय संस्कृति पर एक सेमिनार हुआ था। उसमें आपने कहा था कि हम शहरी लोग भारतीय संस्कृति को नहीं समझ सकते···क्या इसे आप स्पष्ट करेंगे ?

मैंने यह कहा था कि आपने देश की संस्कृति के बारे में हम शहरी लोग, शहरी नजरिए से सब कुछ कहते हैं। मैं नहीं समझता कि शहरी संस्कारों से ग्रस्त होकर भारतीय संस्कृति को समझा जा सकता है। एक लेखक संवेदना के स्तर पर उस संस्कृति के किसी एक पक्ष को चित्रित कर सकता है। उस संस्कृति का वाहक बन सकता है, उसे झलका सकता है लेकिन जहां उसका "इंटरप्रेटेशन" करने चलें वहीं गड़बड़ी हो जाती है। हमारी संस्कृति मूलतः गांव और कस्बों की है। पश्चिम की तुलना में वह काफी जटिल है। और उससे पश्चिम की तार्किक पद्धति से नहीं निपटा जा सकता।

● आप संस्कृति को किस तरह "एनालाइज" करना चाहेंगे ?

मैं यह कहना चाहूंगा कि इसके जिस रूप को आप जैसा देखें वैसा ही लिख दें, अपनी ओर से उसमें बिना कुछ जोड़े-घटाए

(शेष पृष्ठ 57 पर)

हिंदी में आंचलिक उपन्यास परंपरा और विकास

अमरेंद्र मिश्र

प्रत्येक उपन्यास, स्थान, काल, संस्कृति या संस्कार विशेष के लोगों को लेकर लिखा जाता है—इस अर्थ में कोई भी उपन्यास गैर आंचलिक नहीं हो सकता। सर्जन तत्व की प्रधानता के जरिए उपन्यास के प्रकृति-निर्णय का सिद्धांत बनाया जाए तो 'आंचलिकता' एक विशिष्ट औपन्यासिक दृष्टिकोण है।

विशुद्ध आंचलिक उपन्यास एक कठिन धारणा है। आज के अधिकांश उपन्यासों में, जिन्हें आंचलिक उपन्यासों की कोटि में रखा जाता है, आंचलिकता का आभास मात्र रहता है। प्रत्येक सामाजिक उपन्यास में खास क्षेत्र की जीवन प्रणाली का चित्रण होता है तथा लेखक की कोई सुधारवादी मनोवृत्ति साथ लगी चलती है। ऐसे उपन्यास भी प्रायः निम्नतम अर्थ में आंचलिकता का आभास प्रस्तुत करते हैं। श्रेणी-निर्णय की समस्या को समक्ष रखकर सिद्धांत रूप में इन उपन्यासों को अंशगत आंचलिक भी नहीं कहा जा सकता।

उपन्यास में आंचलिकता का आंदोलन वस्तुतः अमरीकी साहित्य से प्रारंभ होता है। सामान्यतः आंचलिक शब्द केथर, फॉकनर, स्टेन बेक की रचनाओं, जो यथार्थवादी क्षेत्र पर केंद्रित हैं, के लिए लागू किया गया। ये उपन्यासकार ही आंचलिकता की बुनियाद डालते हैं।

इस सदी के अन्य अमरीकी आंचलिक उपन्यासकारों में एडवार्ड इगल्सटन, वाशिंगटन केल्ब, चांडलर हेरिस और सिडनी पोर्टर आदि के नाम विख्यात हुए हैं। किंतु ये सभी आंशिक रूप से ही आंचलिक माने जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इनका संपूर्ण प्रयास 'लोकल कलर' तक ही रह जाता है।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अमरीकी उपन्यासों में आंचलिकता की लहर पुनः बढ़ी। इस काल के बड़े आंचलिक उपन्यासकारों में विला कैथर, फॉकनर, स्टेन बेक प्रमुख हैं।

आंचलिक उपन्यासों की सही परंपरा हमें अमरीकी साहित्य में ही मिलती है। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि उपन्यासों में इसका पर्याप्त विकास नहीं है। इसका कारण हम खोजना चाहें तो पर्याप्त अनुमानगत कारण यह हो सकता है कि इन देशों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हमेशा अन्य देशों की उलट-पुलट से संबद्ध रही। जाति एवं सामाजिक जीवन की परंपराएं यूरोपीय देशों में ही, इतने प्राचीन काल में स्थायी हो गईं, जब साहित्य में जाति व समाज की चेतना का उदय भी न हो पाया था।

अमरीकी साहित्य के साथ ऐसी कोई घटना नहीं घटी स्वतंत्रता संग्राम के बाद अमरीकी साहित्यकारों में जाति एवं राष्ट्र-चेतना का आलौकिक अभ्युदय हुआ, जिस पर किसी दर्शन या राजनीति का 'मिशनगत' दबाव नहीं रहा।

भारतीय उपन्यासों में आंचलिकता का स्त्रोत बंगल उपन्यासों में फूटता है—इस अर्थ में शरतचंद्र को स्मरण किया जा सकता है। लेकिन शरतचंद्र में आंचलिकता उतनी ही सीम तक थी जितनी कि प्रेमचंद में। फिर भी उन्होंने अपने साहित्यकारों को इतना प्रभावित किया कि उनकी आंचलिकत के वंशधर ताराशंकर, विभूति भूषण, मानिक बंधोपाध्याय सतीनाथ भादुड़ी आदि हुए। इन उपन्यासकारों ने आंचलिकत की नई और सबल धारा प्रवाहित की। शरतचंद्र ने अपने 'पल्ली समाज' में गांव के सामाजिक संगठन का, जो सीध चित्र प्रस्तुत किया है, वह सचमुच अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी आगे चलने वाले इन नए कथाकारों ने एक प्रगति जरूर की और वह प्रगति है, अंचल के चित्रों के जरिए वहां के मानव का शास्त्रीय अध्ययन ताराशंकर के **जनपद, आरोग्य निकेतन** एवं विभूति बाबू के **आरण्यक** आदि उपन्यासों में गांव की संस्कृति अर्द्ध नगर एवं नगर संस्कृति से अपनी भिन्नता निश्चय ही खोलती है। इस प्रसंग में ताराशंकर तथा श्री सतीनाथ भादुड़ी निश्चय ही सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। श्री भादुड़ी ने 'ढोढ़ाय चरित मानस' में पूर्णियां की पिछड़ी जातियों के चंद आंचलिक परिच्छेद के जरिए वहां की जिंदगी को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है।

लेकिन बंगला के ये ख्याति लब्ध उपन्यास भी सही अर्थों में आंचलिक उपन्यास की परिभाषा से कुछ इतर रह जाते हैं। ये उपन्यास सही तौर पर आंचलिक नहीं, आंचलिकता की ओर उन्मुख हैं। सामान्य सामाजिक उपन्यासों की पुरानी आदतों को छोड़ पाने में ये सक्षम नहीं हो पाए हैं। आंचलिक संस्कृति के मानव शास्त्रीय अध्ययन के बदले इन कथाकारों ने अपने ग्रामांचलों में अपने नए क्रांतिकारी, सामाजिक, राजनीतिक विचारां को प्रस्तुत किया है, जिनका आंचलिक संस्कृति के रहस्योद्घाटन से कम ही नाता-रिश्ता है।

इतनी मंजिलें तय कर चुकने के बाद केवल एक ही उपन्यास नजर आता है जिसे सर्वांगत : सफल आंचलिक उपन्यास की संज्ञा देना चाहें तो दे सकते हैं।

वह उपन्यास है—उड़िया भाषा के लब्ध प्रतिष्ठित लेखक गोपीनाथ महंती की अमर कृति **'अमृत संतान'**। इस उपन्यास में विश्व के सभी उपन्यासों के बीच प्रथम श्रेणी में रखे जाने की योग्यता है। उड़ीसा के आदिवासियों के जीवन पर यह उपन्यास लिखा गया है। आंचलिक उपन्यास की परिभाषा के अनुसार इस उपन्यास में सारा अंचल ही पात्र बन गया है। दिन-प्रतिदिन की घटनाएं पर्व-त्यौहारों की विधि, सामाजिक कार्यों को संपादित करने वाले संगठन, उनकी प्रतिक्रियाएं आदि को एक साधारण अंतर्गामिनी कथा-सूत्र में गूंथकर यह उपन्यास उस अंचल के आदिवासी जीवन का उत्तम मानव शास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करता है। भारतीय कथा-साहित्य में आंचलिकता के खयाल से इस उपन्यास को आदर्श माना जा सकता है।

हिंदी में आंचलिकता का विकास किसी जादुई ढंग से न होकर वर्षों की साधना के जरिए हुआ है। हिंदी गद्य की और विधाओं में जिस प्रकार विकास आया और नया स्वरूप उभरा, उपन्यास भी जन-जीवन के परिवर्तनों के साथ विकसित होता गया। यह मानना पड़ेगा कि हिंदी में आंचलिक उपन्यास का श्रीगणेश सन् 30 के आस-पास शुरू हो गया होता अगर हिंदी क्षेत्र मात्र गांधी की उदारनीति से प्रभावित नहीं होता। राष्ट्रीयता के जिस तीक्ष्ण स्वार्थ से आंचलिकता का जन्म होता है, उसका आभास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला की 'चतुरी चमार', बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि पुस्तकों से मिल जाता है। किंतु इन लोगों के साथ राष्ट्रीयता के उदार दृष्टिकोण का आदर्श हमेशा चिपका रहा। फलतः सीमाबद्ध आंचलिकता, जिसके सृजन में यथार्थ का संजीवन होता है, न पनप सकी।

उत्तरार्द्ध 20वीं सदी के प्रवेश के साथ आंचलिकता का अभ्युदय हुआ, जबकि आजादी के बाद, राष्ट्रीय चेतना ने विश्व-मंच पर अपने अहम को प्रतिष्ठित करने की बात सोची। अपने स्वरूप को आप देखने की इच्छा जगी। यह शुभारंभ नागार्जुन के साथ होता है। वैसे इनसे पहले अमृतलाल नागर तथा शिव प्रसाद मिश्र की ऐसी रचनाएं आई थीं, जिन्हें आंचलिकता के निकट संबंधी होने का श्रेय दिया जा सकता है।

कतिपय विवेचनों के पश्चात निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिंदी का पहला आंचलिक उपन्यास नागार्जुन का 'बलचनमा' ही ठहरता है। 'बलचनमा' की रचना भूमि प्रेमचंद की वसीयत है। प्रेमचंद एवं उनके आस-पास के लेखक मुख्यतः राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को ही साधने में लगे रहे। प्रेमचंद ने लोकप्रिय के लिए अंचल-विशेष को चुना, किंतु प्रेमचंद के साहित्य का मूलधर्म लोकोदय था जिसके विकास की शुरूआत दर्शन के उदारवादी दृष्टिकोण से हुआ—फलस्वरूप प्रेमचंद अंचल विशेष के न होकर लोकमात्र के हो गए। 'बलचनमा' की रचना के पीछे वे तमाम कारण आ जुटे, जिनके जरिए, किसी भी साहित्य में आंचलिकता का अभ्युदय संभव हो सकता है।

जिस प्रकार अमरीकी साहित्य में आजादी की भूख ने मातृ-भूमि की मिट्टी के प्रति प्रेमाधिक्य को सृजित किया, वही बात हमारे देश के साथ भी हुई। छायावाद या उसके समकालीन गद्य का यह रूप हम आज भी गौरव से देखते हैं। प्रेमचंद एवं उनके आस-पास का आलेखन इस स्थिति तक पहुंच गया था।

नागार्जुन के साथ—उनके अभ्युदय के साथ हमारी राष्ट्रीयता ने विकासवादी दृष्टिकोणों से काफी अधिक परिचय कर लिया था। साहित्य के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह देश के खंड-खंड को महागाथाओं के जरिये उद्घोषित कर वर्गवादी संघर्ष की दलित आत्माओं का उद्बोधन करता।

वर्ग-संघर्ष की कथा को प्रेमचंद ने 'गोदान' में जिस रूप में उपस्थित किया था, उसके बाद लेखन-चेतना के लिए अनिवार्य था कि वह वर्ग संघर्ष के उस सर्वदर्शी रूप की ऐतिहासिक व्याख्या पूरी गहनता के साथ करे। गांव या नगर की ऐसी स्थितियों के जरिए कथाकारिता का प्रारंभ होना विकास का सरल, स्वाभाविक और अटल नियम-सा था। एक मुख्य बात यथार्थवादी आन्दोलन का प्रभाव भी है। प्रेमचंद के समय से ही कवियों ने 'चलो कवि वनफूलों की ओर' एवं 'भारत माता ग्रामवासिनी' कहकर जन जीवन के नए यथार्थवादी रोमांस को जन्म दे दिया। यही कारण है कि 'बूंद एवं समुद्र' जैसा सबल प्रयास भी आंचलिकता को नगर-उन्मुख न कर पाया।

हिंदी के लिए ऐसी स्थिति तो उत्पन्न हो चुकी थी, जब अंचल पर आधारित 'बलचनमा' जैसी यथार्थ कथा का सृजन हो। इसीलिए यह कहना व्यर्थ नहीं कि नागार्जुन का 'बलचनमा' हिंदी कथा साहित्य की एक स्वाभाविक और अनिवार्य उपज है।

आत्म कथ्य शैली का यह उपन्यास मिथिला की विराट् संस्कृति की **नींव की ईंट**—जैसे एक नौजवान के जीवन का इतिवृत्त है, जिसके जरिए संपूर्ण मिथिला के सामाजिक,

ऐतिहासिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन आयामों को अभिव्यक्ति दी जाती है। लेकिन इसकी क्षेपक-कथा (पटना-पुराण) निश्चय ही टांका गई चिप्पी-सी लगती है और अनायास ही 'गोदान' की भाग-दौड़ वाली कथा-पद्धति की याद छोड़ जाती है।

नागार्जुन की यह कथा-दृष्टि आगे चलकर परिपक्व हो सकी और 'बाबा बटेसरनाथ' 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासों में उनका आंचलिक कथाकार उज्ज्वल रूप में सामने आ सका है।

आंचलिकता की इस सफलता ने हिंदी साहित्य को गहरे रूप में प्रभावित किया और फिर तो हिंदी में आंचलिकता का तूफान-सा आ गया और इस क्रम में बहुत से आंचलिक उपन्यास इस क्षेत्र में आए। नागार्जुन की तरह हिंदी के स्वाभाविक विकास और कथा-परंपरा को आधार बनाकर आंचलिक उपन्यासकारों में देवेंद्र सत्यार्थी का नाम महत्व का है। उन्होंने 'ब्रह्मपुत्र' 'दूध गाछ' आदि के जरिए उपन्यास के इस आयाम को स्पष्ट किया—समृद्ध किया। फिर इसके बाद श्री उदयशंकर भट्ट ने 'सागर, 'लहरें' और 'मनुष्य', भैरव प्रसाद ने 'सती मैया का चौरा' एवं राजेंद्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल'—जैसी कृतियां दीं। भट्ट के उपन्यास में वे ही त्रुटियां आ गई हैं जो 'वरूण के बेटे' में है। यह त्रुटि है, नाटकीयता का होना—भट्ट ने कथा में चमत्कार के लिए मछुआ की लड़की को बंबई की छंटी हुई नागरिका बना दिया और नागार्जुन ने मछुआ की बेटी को कम्युनिस्ट पार्टी का माउथ पीस। मछुआ जीवन पर लिखे इन दो उपन्यासों के मछुए बंगला के ख्याति लब्ध लेखक मानिक बंधोपाध्याय के पद्मा के मांडियों के वंशज हैं या नहीं, कहना कठिन है। किंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिंदी के ये मछुए कागजी हो गए हैं। 'सती मैया का चौरा' और 'जंगल के फूल' दोनों ही आंचलिक उपन्यासों के अधुनातन प्रयोग हैं।

यह महत्वपूर्ण है कि हिंदी में आंचलिकता की चर्चा स्व० फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास—'मैला आंचल' से प्रारंभ हुई। रेणु का 'परतीः परिकथा' भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'मैला आंचल' पूर्णियां जिले के एक गांव के स्थानीय वातावरण की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। 1942 के पश्चात् सन् 1948 तक उस गांव की स्थिति, संगठन, बोलचाल, रहन-सहन, व्यक्ति के मनोविकार, भारत व्यापी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आंदोलनों को ग्रहण करने की उस अंचल की प्रक्रियाओं के संकलित शब्द-चित्रों का नाम है—'मैला आंचल'।

'मैला आंचल' के अभावों की पूर्ति 'परती परिकथा' में करने की 'कोशिश' है। रेणु ने सांस्कृतिक परिवेश तैयार करने के लिए कोशी का इतिहास लिखकर कोशी-संस्कृति की बात कहने की चेष्टा की है। इस उपन्यास में 'मैला आंचल' से रेणु एक जगह आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं, जहां गांव में होने वाली दैनिक हलचलों की प्रतिक्रियाएं अधिक स्पष्ट हैं।

यह ध्यान में रखने की बात है कि आंचलिक उपन्यासों की दो कोटियां होती हैं जिनमें पहली कोटि में ऐसे उपन्यास आते हैं जिनमें किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण होता है और ऊपर, जिन उपन्यासों की चर्चा हमने की है, वे सभी इसी पहली कोटि अर्थात् अंचल विशेष के चित्र उपस्थित करने वाले उपन्यास हैं।

दूसरे प्रकार के आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें किसी जाति विशेष प्रायः अपरिचित या आदिम जातियों का चित्रण होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में 'सागर, लहरें और मनुष्य' रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं', देवेंद्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' आदि महत्वपूर्ण उपन्यास माने जा सकते हैं।

आंचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों की परंपरा में रखा जा सकता है। इनमें आंचलिक जीवन का ही यथार्थ चित्रण होता है। यथार्थ का यह आग्रह रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं' में पूर्ण रूप से मिलता है। वर्ग-संघर्ष को उपन्यासकार ने उभारा है। दरिद्र और छोटी जाति वालों पर धनी और ऊंची जाति के लोगों के अत्याचार उपन्यास में भरे पड़े हैं।

निबंध समाप्त करने के पहले हम इस बात पर विचार करना आवश्यक समझते हैं कि आंचलिक उपन्यासों में बिखराव अधिक प्राप्त होता है। इस बिखराव के कारण उपन्यासकार किसी व्यापक कथा और महत चरित्र की सृष्टि कर पाने में अक्षम रहता है। रेणु अपने दोनों उपन्यासों—'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में किसी एक व्यापक कथा और महान चरित्र की सृष्टि नहीं कर पाए हैं। घटना-आधिक्य के कारण कथा में असंबद्धता आ गई है। केवल कुछ बिखरे चित्र मिलते हैं। दोनों ही उपन्यासों में चरित्र संख्या में प्रचुरता है।

फिर भी आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य गंभीर और सामाजिक है। इनकी सफलता जनजीवन की सच्ची और महान कथा कहने में है। जो उपन्यास गांव के त्यौहार, नाच-गाने आदि आंचलिक दृश्यों को बिना किसी महान आधार के प्रस्तुत करेगा, वह समर्थ नहीं हो पाएगा।

कुछ त्रुटियों और कमजोरियों के बावजूद हिंदी के आंचलिक उपन्यासों ने वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिंदी उपन्यास साहित्य की परंपरा में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

घायल

—महेशचंद्र जोशी

प्रातः जगने से लेकर रात्रि को सोने तक उसका मन उदासी से भरा रहता है। उसे न उगता सूर्य ही अच्छा लाता है र न डुबता ही। बताने को उसे कोई दुःख नहीं है। चार बेटे । चारों संतोषजनक धंधे में लगे हुए हैं। अपने-अपने परिवारों साथ परदेस में आराम से दिन बिता रहे हैं।

पैसों की उसे चिंता नहीं है। उसका एक छोटा-सा मकान । पेंशन के पैसे इतने मिल ही जाते हैं कि दो जीवों—वह और सकी पत्नी की उदर पूर्ति आराम से हो जाती है। फिर ा दुःख बताए वह? उदासी का क्या कारण बताए?... किन फिर भी घुटन क्यों? मन में एक ऐठन सी क्यों? वह ाचता है। सोचता रहता है।

कैसी अजीब पीड़ा है उसके मन में भी, जिसका उसे कोई ा नहीं मिल रहा। कोइ किनारा नहीं मिल रहा। उस पीड़ा ो भूलने के लिए वह दिन रात किसी न किसी कार्य में व्यस्त ुना चाहता है। काफी समय तक कार्य करने की वह किसी द तक शक्ति व सामर्थ्य भी अनुभव करता है। पर कार्य ारंभ करने से पूर्व ही उसके मस्तिष्क में एक भयंकर प्रश्न ह्न बन जाता है- 'लोग क्या कहेगें?'

वह भीतर या तो माथे पर हाथ लगा कर बैठ जाता है या र बाहर बरामदे में मस्ती से टहलने का अभिनय करता है, ाकि लोग समझें कि वह बड़ा भाग्यशाली है। वास्तव में चार टों का बाप है।

जब उसके बेटे एक-एक करके पढ़ लिख कर नौकरी पर गते जा रहे थे, तो रिश्तेदार पड़ौसी व अन्य मिलने-जुलने ाले कैसी मीठी चुटकी लेते थे-' हां भई अब घनश्याम जी के ाठ हैं। एक के बाद एक लड़का नौकरी पर लगता जा रहा । रिटायरमेंट तक चारों बेटे नौकरी पर लग जाएगें। फिर ा हाथ दबायेंगे और दो पैर। मकान कोठी में पलट जाएगा ौर बुढ़ापा जवानी में।'

उसके चारों बेटे नौकरी पर तो लग गए, पर लोगों की ताने के प में कहीं अन्य सभी बातें सार्थक सिद्ध नहीं हुई। उसके कहने उपरांत भी किसी बेटे ने उसके पास तबादला कराने का यत्न नहीं किया है। उल्टे अपनी-अपनी सामर्थ्य से काफी कम सा भेजकर एहसान ही दिखलाया है। कई बार वह सोच चुका कि वह किसी बेटे का पैसा स्वीकार न करे, पर मनीआर्डर ाते ही वह फार्म पर हस्ताक्षर कर एक हल्की मुस्कराहट के ाथ पैसे गिनने लगता है। पर उसकी यह मुस्कराहट अधिक मय तक कायम नहीं रहती है, तभी कभी-कभी वह बड़बड़ाने गता है- 'कैसी निकम्मी संतान पैदा हुई है। कमबख्त एक भी ास आकर रहने को तैयार नहीं, जैसे मैं बाप नहीं दुश्मन हूं। श्मन! इससे, तो अच्छा होता कि मैं बेऔलाद ही रहता।

'क्यों अपशकुनी बातें मुंह से निकाल रहे हो? 'पत्नी टोकती है 'कहीं किसी को कुछ हो गया तो?'

'तुम्हारे ही इस लाड़ प्यार ने इन्हें बिगाड़ दिया है।'

'हां। हां। मैंने ही उन्हें बिगाड़ा है। इस घर को बिगाड़ा है। घर के सारे शुभ कार्य तो कोई और ही आकर संपन्न कर गई होगी।....' कहते-कहते पत्नी रो पड़ती है।

पत्नी को रोता देखकर उसका मन और अधिक पीड़ा से भर जाता है। और कुछ देर बाद अपने को अस्वस्थ-सा प्रतीत करने लगता है। वह खामोशी से दूसरे कमरे में चला जाता है और चारों बेटों को लिख देता है कि वह गंभीर रूप से अस्वस्थ है।

चारों बेटे, एक-एक, दो-दो दिन के अंतर में उसके समीप सपरिवार आते हैं और अपना-अपना दुःख व्यक्त करते हैं। वह मन ही मन अपनी सफलता पर मुस्करा उठता है। पर जब डाक्टर को दिखलाने के बाद बेटों को पता लगता है कि उनका पिता किसी रोग से अस्वस्थ नहीं है तो वे उस पर

झुंझला उठते हैं- "हमें क्यों ख्वामख्वाह तंग किया ? पैसा खराब किया। समय नष्ट किया।" उसके मन में आता है कि वह भी चीखकर कह दे- "चार पैसे खर्च होने में तुम्हारा इतना मन दुःख रहा है। यदि मैं भी तुम्हारी तरह पैसे और समय की ओर ध्यान लगाए रखता तो आज तुम्हारे चेहरों पर यह गुलाबी रंग कैसे दीखता।" पर वह कह नहीं पाता। भीतर ही भीतर स्वयं पर झुंझलाकर रह जाता है। घुट कर रह जाता है। पर बेटों के लौटने पर वह अपने पोते पोतियों को पुचकारता हुआ स्टेशन तक जाता है, जैसे उसके हृदय में कोई दर्द नहीं। कोई पीड़ा नहीं। लेकिन गाड़ी रवाना होते ही उसके चेहरे पर पड़ी हल्की झुर्रियां सिकुड़ जाती हैं और वह बड़बड़ाने लगता है। बेटों को व स्वयं को कोसता हुआ घर लौटता है और आते ही पत्नी पर बरस पड़ता है- 'देखो, बेटों के इतने परायापन दिखलाने पर भी तूने उन्हें अपनी छाती से दूर नहीं किया।'

पत्नी भी चीख उठती है- 'मैं मां हूं, मां ! मैं किसी भी कीमत पर उन्हें दिल से दूर नहीं कर सकती।..... आखिर ऐसा झूठा नाटक दिखलाने की जरूरत ही क्या थी?'

'नाटक। ...झूठा। .. हां मैंने तो झूठा नाटक खेला, पर तुम सब तो सच्चा नाटक खेल रहे हो।.....खेलो। खूब खेलो।...'कहते-कहते वह क्रोध से भर जाता है। मन ही मन बड़बड़ाने लगता है- 'अर्द्धांगिनी कहलाने वाली यह 'बूढ़ी' भी आज मुझसे दूर होती जा रही है ? क्या उम्र बीतते-बीतते खून के रिश्तों के साथ-साथ जन्म जन्मांतरों तक का साथ निभाने वाला यह रिश्ता भी दूर होता जाता है। क्या वास्तव में ही रिश्ते नाते सब झूठ हैं ? क्या मैं वास्तव में अकेला हूं ? एक-दम अकेला ?.....' वह सोचता हुआ धीरे-धीरे बाहर की ओर रवाना हो जाता है।

'ओफ ! कैसी गलती की मैंने भी बच्चों को पूरा आत्मनिर्भर बनाकर। पैसे भी न बचाए ? धन के लालच में तो वे अवश्य शहद के छत्ते पर मंडराती मधुमक्खियों की तरह यहां मंडराते रहते। जबकि, अब स्वयं आने तक की बात भी सोचते नहीं।'

"उल्टे सीधे धंधे करके पैसा कमाया। इन सबका घर बसाया। किसलिए ? क्या इसलिए कि आज मैं जीवन की संध्याकाल में दूध न देने वाली बूढ़ी गाय की तरह सबकी आंखों का कांटा बनूं ? यह भी कोई जिंदगी है ? इससे तो अच्छा यही है कि जहर खाकर मर जाऊं।" उसका शरीर कांप उठता है। पैर लड़खड़ा जाते हैं। वह भीतर जाकर चारपाई पर लेट जाता है और ठंढ से सताए कुत्ते की तरह रोने लगता है। पत्नी उसके समीप आकर बैठ जाती है। सान्त्वना भरे स्वर में कहती है- 'तुम्हें ऐसा क्या दुःख है ? क्यों इतने परेशान से रहते हो ? भगवान ने चाहा तो बच्चे भी एक न एक दिन हमारे समीप आ ही जाएंगे।'

'वे कम्बख्त कभी हमारे पास नहीं आएंगे? मैं उन्हें जानता हूं। आखिर मैं उनका बाप हूं।' भीगे व क्रुद्ध स्वर में वह कहता है।

'गालियां तो न दो उन्हें। आखिर वे हमारी ही तो संतान हैं।'

'भाड़ में जाए ऐसी संतान।'

यह सुनते ही पत्नी गरज पड़ती है। कुछ देर तक तो वह, उससे मुकाबला करता है। फिर खामोश हो जाता है। और सोचने लगता है- "कि उसे कोई रोग।" तभी पत्नी भी उस पर हाबी होती है। वह चारपाई से उठता है और हास्पिटल की ओर रवाना हो जाता है। पत्नी उसे पुकारती रह जाती है।

रास्ते में वह सोचता है- 'शक नहीं कि मुझे हृदय रोग है। मैं तुरंत हास्पिटल में भर्ती हो जाऊंगा। वहीं से अपनी पत्नी व बच्चों को अपने भयंकर रोग की सूचना दूंगा। फिर देखता हूं कि कैसे ये लोग मेरे लिए चिंतित नहीं होते हैं। मेरी सेवा नहीं करते।"....

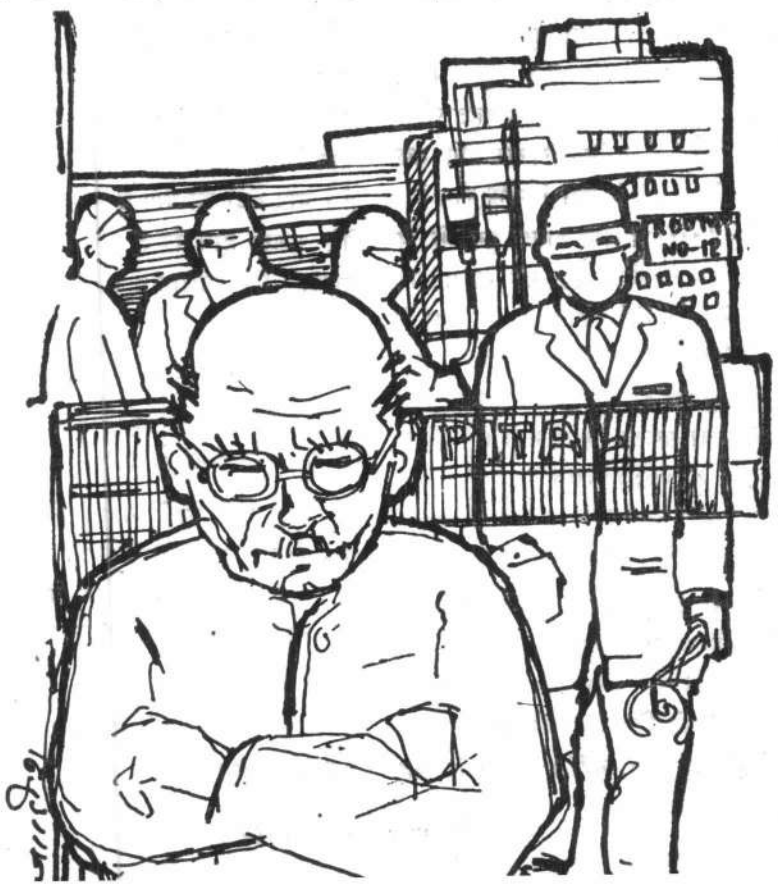

हास्पिटल।

'डाक्टर साहब। डाक्टर साहब। मुझे जल्दी से देखिए। मुझे पूरा विश्वास है कि मैं हृदय रोग से पीड़ित हूं।' वह डाक्टर के समीप पहुंच कर निवेदन करता है। डाक्टर तसल्ली से

शब्दों का जंगल

सुखबीर विश्वकर्मा

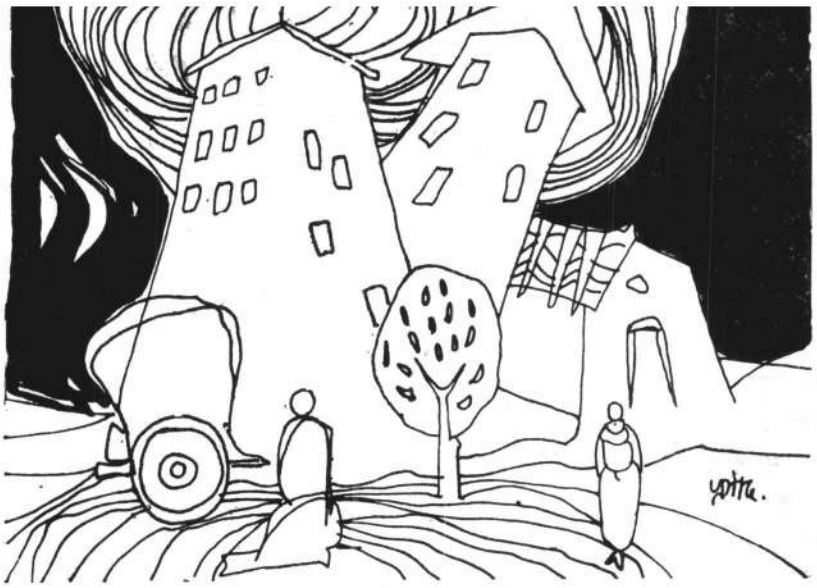

बादल की कटोरियों में भरा हुआ जल
और जल में घुले हुए रंग
टपकते हैं जब ऊपर से नीचे
की ओर;
मौसम अपने नर्म रोमिल
पंखों को फड़फड़ा कर
फुदकने लगता है धरती पर

असहनीय छटपटाहट के साथ
सोच के गर्भ से
शब्द बाहर आकर
उकेरने लगते हैं व्यापक चित्र

धरती का रीतापन : भरने
लगता हूं शब्दों से मैं;
लगाने लगता हूं कविताएं
वृक्षों की खाली हथेलियों पर

कविताएं जो अपने स्वर में
सृष्टि को गाती हैं,
महकाती हैं : बियाबानों का सूनापन

आसमान से धरती तक : रंगों की
ये यात्रा कितनी मोहक और
सुखद होती है;

गहरे नीचे दबी पड़ी
अनुभवों की सम्पन्नता
सम्पूर्णता के साथ विराट होकर
मुखरित हो उठती है मुझमें

बादल की कटोरियों में भरा हुआ जल
और जल में घुले हुए रंग
टपक रहे हैं ऊपर से नीचे की ओर
भींगता जा रहा है रंगों से
मेरे शब्दों का जंगल।

उसे देखता है और मुस्करा कर कहता है—"डरो मत आपको कोई रोग नहीं है। अभी आपको बहुत जीना है।" वह वहां से उठकर बाहर की ओर चल पड़ता है। कुछ क्षणों के पश्चात् चिंता में डूब जाता है-"क्या सचमुच मुझे बहुत जीना है? ···क्या मैं अब भी अपने बच्चों को तबीयत खराब होने तक की बात नहीं लिख सकता ? ···नहीं ! नहीं ! मुझे रोग है। मृत्यु तक ले जाने वाला रोग ! ···क्या जाने डाल्डा युग के ये डाक्टर किसी के गंभीर रोग को? ···कोई मृत्यु की देहरी पर खड़ा है और ये कहते हैं कि उसे कोई रोग नहीं। ···वाह रे भगवान, धन्य है तू भी ! कैसे नमूने गढ़-गढ़ कर भेजे हैं तूने भी इस पृथ्वी पर।·· तू तो जानता ही है कि मेरी अंतिम घड़ी आ गई है। मुझे कोई नहीं बचा सकता। कोई नहीं।···" एक भयंकर तूफान उठ खड़ा होता है उसके मस्तिष्क में और वह एक कार से टकरा जाता है। कार तेजी से आगे को दौड़ जाती है। बेहोश न होते हुए भी वह बेहोशी का अभिनय करता है। धीरे-धीरे भीड़ उसके चारों ओर इक्ट्ठा होने लगती है। वह आंख बंद किए कुछ लोगों के सहानुभूतिपूर्ण वाक्यों को सुनता है- 'बहुत बुरा हुआ।···इस बुढ़ापे में···। यह दुःख ! हाय राम ! ····कार को रोक कर कार वाले की पिटाई करनी चाहिए थी। ····बेचारे के पता नहीं कोई है भी या नहीं।···' तभी वह सोचता हैं- 'जब पराए इस हालत में मुझसे इतनी सहानुभूति रख रहे हैं तो अपने क्यों न रखेंगे ?···अब बच्चे मेरे पास अवश्य आएंगे। मेरे प्रति स्नेह प्रकट करेंगे। तभी पत्नी भी मेरी कीमत आंकेगी। दुनियां भी मेरी कीमत आंकेगी। तब मैं शान से सीना तानकर कह सकूंगा, कि वास्तव में मैं भाग्यशाली हूं। चार बेटों का बाप हूं। मेरे चारों बेटे वास्तव में मेरे हैं। मेरे सशक्त हाथ पैर हैं। कोई मुझे अब बेहूदा शब्द नहीं बोल सकता। मैं शहनशाह हूं। मैं ··।'

उसके मुंह से अचानक 'मैं' निकल जाता है। तभी भीड़ से एक स्वर आता है-"आ गया होश। बूढ़े को होश आ गया।" वह मन ही मन स्वयं पर झुंझलाता हुआ उठ बैठता है और एक झटके से उठ खड़ा होता है।

वह अभी कोरी सहानुभूति दिखलाने वाली भीड़ की ओर देखे बिना, पलकें नीची किए, रवाना होने को ही था कि तभी पास खड़े व्यक्ति का तीर-सा चुभता स्वर- 'जा रे बूढ़े जरा-सा खून आया हैं, हास्पिटल जाकर पट्टी बंधवा आ।' उसके दिल पर आ लगता है।

वह बिना किसी से कुछ कहे, गर्दन झुकाए, घर की ओर चल पड़ता है।

तीन इश्कों का शायर—फैज़ अहमद फैज़

शेर जंग गर्ग

संक्षिप्त परिचय : फैज अहमद फैज आधुनिक उर्दू कविता के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील और रुमानी शायरों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। फैज का जन्म स्यालकोट, पंजाब (अब पाकिस्तान) में 1911 को हुआ था। बचपन से ही साहित्य के रंग में डूबे फैज ने तेरह साल की उम्र में कुरान कंठस्थ कर ली थी। आपकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू, फारसी और अरबी में हुई। इंटरमीडिएट की परीक्षा 1929 में पास करने से पहले ही उन्होंने अपनी गजल कही थी। इसके बाद उनकी नज्म भी उसी वर्ष प्रकाश में आई। 1931 में बी०ए० आनर्स तथा 1933 में अंग्रेजी साहित्य में एम०ए० करके फैज ने अरबी साहित्य में भी एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद अमृतसर के एक कालेज में 1935 में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हो गए।

"अदबे लतीफ", "पाकिस्तान टाइम्स" और "इमरोज" आदि पत्रों का संपादन भी फैज ने काफी समय तक किया। "नक्शे-फरियादी", "दस्ते सबा", "जिन्दां नामा", दस्ते-तहे-संग", "सरे-वादिये-सीना", "शामे शहरे यारां" जैसे काव्य-संकलनों के रचनाकार फैज एशियाई पाठकों में अपनी नज्मों और गजलों के कारण खूब लोकप्रिय रहे हैं। "तुम कोई अच्छा-सा रख लो अपने वीराने का नाम", "वो बात उनको बहुत नागवार गुजरी है" और "हम तेरी आरजू भी खो बैठे" जैसी सरल मगर चुभने वाली सैंकड़ों पंक्तियों के कवि फैज के चाहने वाले आपको हर जगह मिल जाएंगे। लोकप्रिय कवि फैज एक अत्यंत श्रेष्ठ गद्य-लेखक भी हैं। "मीजान", "सलीब मेरे दरीचे में" आदि पुस्तकों में उनके गद्य लेखक की बानगी देखी जा सकती है। कहना न होगा कि फैज भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश में समान रूप से लोकप्रिय हैं। फैज जब भी भारत आए हैं, उनका पहले से ज्यादा स्वागत हुआ है।

फैज ने संसार के बहुत-से देशों की यात्रा की है। 1962 में फैज को लेनिन शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

फैज की रचनाओं की काव्यमयता और बारीकी का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि सिनेमा और संगीत की दुनिया के लगभग सभी गायकों ने फैज के कलाम को अपनी संगीत लहरियों में पिरोया है। रूना लैला, बेगम अख्तर, मेहदी हसन जैसे गायक-गायिकाओं ने फैज की गजलों को अपने गले का हार बनाया है और उर्दू न जानने वाले पाठकों, वक्ताओं और लेखकों की जुबान पर फैज की पंक्तियां गाहे-बगाहे उभर-उभर आती हैं।

तीन इश्क

फैज अहमद फैज की एक कविता है "दा इश्क"। इस कविता में उन्होंने स्वयं को दो प्रकार के इश्कों का मुरीद बताया है। उनका एक इश्क तो है साकिए गुलफाम, अक्से रुखे यार और महके हुए अय्याम आदि। स्पष्टतः यह इश्क है सौंदर्य और प्रेमिका का इश्क। सौंदर्य और प्रेमिका का यह इश्क फैज को बेतरह झकझोरे हुए है और इस इश्क में आकंठ डूबे फैज बेसाख्ता कह उठते हैं :

तनहाई में क्या क्या न तुझे याद किया है
क्या क्या न दिले जार ने ढूंढी हैं पनाहें
आंखों से लगाया है कभी दस्ते सबा को
डाली हैं कभी गर्दन महताब में बाहें

मगर बहुत कुछ होते हुए भी यह इश्क फैज के लिए सब कुछ नहीं है। उनके इस इश्क को व्यापक आयाम प्रदान किया है लैलाएवतन से उनके गहरे लगाव ने। फैज का दिल लैला-एवतन की लगन और चाह में और अधिक शिद्दत से तड़पता है। किन्तु इन दोनों इश्कों से ऊपर, बहुत ऊपर है उनका तीसरा इश्क यानी लैलाए तरक्कीपसंदी का इश्क। सौंदर्य एवं प्रेमिका तथा लैलाएवतन—इन दोनों के ही प्रेम को उनके तीसरे इश्क ने ज्यादा पुरजोर और सार्थक बनाया है। व्यक्ति और राष्ट्र की सीमित परिधियों से निकलकर अन्तर्राष्ट्रीयता और मनुष्यता के व्यापक और असीम संसार में कविता को पहुंचा-कर फैज ने प्रगतिशीलता के कूचे-कूचे और गोशे-गोशे में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

अपने प्रथम काव्य संकलन "नक्शे फरियादी" के दीबाचा (भूमिका) में फैज ने लिखा है—"शेर लिखना जुर्म न सही लेकिन बेवजह शेर लिखते रहना ऐसी दानिशमंदी भी नहीं।" जाहिर है कि इन पंक्तियों से फैज की शायरी का स्वभाव झलक-छलक उठता है। यानी फैज सार्थक, अर्थपूर्ण, मानवमूल्यों से भरपूर, दबे-कुचलों की भावनाओं को उजागर करके उभारने की ललक और सबसे बढ़कर शोषण के खिलाफ आवाज उठाने की वांछा से युक्त कविता लिखने में यकीन रखते हैं।

जेलखाने की कविता

अन्याय और शोषण के खिलाफ और न्याय, मानवता तथा प्रेम के समर्थन में कविताएं लिखने का यह नतीजा निकला कि क्रांति के इस कवि को विभिन्न साजिशों के संदेह में दो बार जेल की हवा खानी पड़ी। फैज 1951 में

गिरफ्तार हुए और चार साल बाद रिहा हुए। फिर 1959 के शुरू महीनों में उन्हें दुबारा जेल भेज दिया गया। इस प्रसंग में उनकी पत्नी **एलिस फैज** ने "यादों के साये" शीर्षक के एक निबंध में लिखा है—"जब मार्च की एक सुबह को फैज ने मुझे और सोते हुए बच्चों को खुदा हाफिज कहा तो मेरे सामने सबसे पहला और संगीन मसला यह था कि चार सौ रुपए की आमदनी से घर को कैसे चलाया जाएगा। सहज स्वभाव, अपनापे की मूर्ति, फैज की सौतेली बहन हमारे साथ रहने के लिए आ गई, ताकि बदले हुए हालात में जिंदगी बसर करने में मेरी मदद कर सके।"

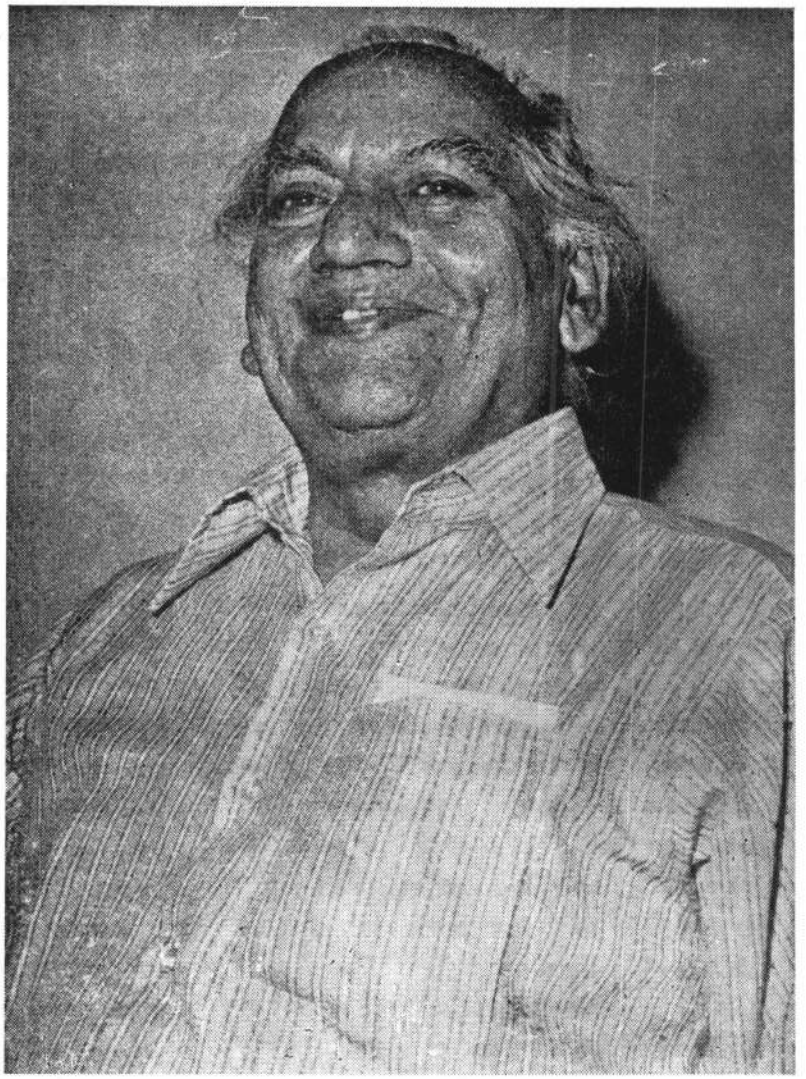

दूसरी बार फैज को मार्शल लॉ के अंतर्गत लाहौर जेल से लाहौर किले में भेज दिया गया। इस प्रसंग में एलिस फैज ने लिखा है—"मैंने उनसे मुलाकात के लिए प्रार्थनापत्र दिया। सी० आई० डी० के अधिकारियों ने जानबूझकर झूठ से काम लिया। उन्होंने इस बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की कि फैज लाहौर जेल से किले में ले आए गए हैं। चुनांचे (इस जानबूझकर बोले गए झूठ की वजह से) मैं लाहौर जेल गई। और वहां पता चला कि फैज तो वहां से जा चुके हैं। और जब मैंने मुलाकात के लिए दुबारा प्रार्थना-पत्र दिया तो मैं गुस्से के मारे उबल पड़ी। आखिरकार मैं अपनी बूढ़ी सास के साथ लाहौर किले पहुंची। फैज को उनकी कोठरी से बुलाया गया। उन्हें देखते ही मुझे अंदाजा हुआ कि या तो उन्हें शेव करने की इजाजत नहीं दी गई या उन्होंने शेव करने का कष्ट नहीं उठाया।"

मगर जेलखानों में रहकर फैज ने कई बेहतरीन नज्में और गजलें लिखीं, जो बाद में जन-जन तक फैलीं और क्रांति का परचम लहराने में सहायक हुईं। **"जिन्दांनामा"** फैज की ऐसी ही शायरी का संकलन है। **"जिन्दां"** उर्दू में कारागार को कहते हैं। **लाहौर** और **मांटगुमरी** की जेलों में कैद फैज ने कभी बेपनाह अंधेरों में रोशनियों के शहर को याद किया है तो कभी **ईथेल** और **जूलियस रोजेजवर्ग** के पत्रों से प्रभावित होकर फरमाया है :

तेरे होंठों के फूलों की चाहत में हम
दार की खुश्क टहनी पे वारे गए
तेरे हाथों की शम्अों की हसरत में हम
नीम-तारीक राहों में मारे गए
सूलियों पर हमारे लबों से परे
तेरे होंठों की लाली लपकती रही
तेरी जुल्फों की मस्ती बरसती रही तेरे
हाथों की चांदी दमकती रही।

स्पष्ट है कि यह चाहत सिर्फ प्रेमिका के होंठों की चाहत नहीं, जिसके कारण फांसी की सूली पर शायर को वार दिया गया है। बल्कि यह लैलाएवतन के इश्क की ही सजा थी, जिसे फैज ने जेल की काली कोठरियों में झेला। मगर उम्मीदों की फसलों को उजड़ता हुआ देखकर भी फैज नई फसलों के लिए अपना यह संदेश जेल के सींखचों से बाहर उछाल रहे थे :

खेती के कोनों-खुदरों में
फिर अपने लहू की खाद भरो
फिर मिट्टी सींचों अश्कों से
फिर अगली रुत की फिक्र करो
जब फिर इक बार उजड़ना है
इक फस्ल पकी तो भर पाया

जब तक तो यही कुछ करना है

फैज की **शायरी शोषण, अन्याय, मूर्खता, धूर्तता, अमानवीयता की बंद-खुली जेलों से मनुष्य की मुक्ति की लगातार छटपटाहट और कोशिश है।** दुनियावी और सरकारी जेलों से आजाद होने पर भी फैज बुनियादी तौर पर इन जेलखानों से अभी भी इंसानियत और बेकस-मजलूमों को मुक्त नहीं पाते हैं और इसी मोर्चे पर आज भी उनकी लड़ाई जारी है।

छोटी कविताओं का बड़ा कवि

फैज छोटी-छोटी कविताओं के बड़े शायर हैं। उन्होंने **फिराक साहब** की तरह लंबी-लंबी गजलें नहीं लिखी है, बल्कि छोटी-छोटी गजलों और नज्मों में गहरी-से-गहरी बात कहकर तथा गागर में सागर उंडेलकर अपने पाठकों की प्यास बुझाई है। यही कारण है कि फैज की अधिकांश गजलें और नज्में औसतन अट्ठारह-बीस पंक्तियों से ज्यादा की नहीं हैं। फैज ने यह सिद्ध कर दिया है कि कम शब्दों में भी गहरी बातें की जा सकती हैं बशर्तेकि शायर को कहना आता हो और शब्दों का चुनचुनकर इस्तेमाल करने में उसे महारत हासिल हो। जहां तक प्रतीकों और बिंबों का सवाल है, फैज ने प्रतीकों को नए-नए संदर्भ और अर्थ दिए हैं।

ढाके से वापसी पर

अत्याचार और शोषण के विरुद्ध संघर्ष और मानवीय संवेदना तथा प्रेम का उत्कृष्ट नमूना है फैज की नवीनतम कविताओं में से एक—**"ढाके से वापसी पर"**। बंगला देश के अस्तित्व में आने के बाद और **भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान** की यात्रा से लौटने के पश्चात् फैज ने **1974** में यह गजल कही थी। इस रचना में संवेदनशीलता और भावप्रवणता की उत्कृष्ट पंक्तियों से साक्षात्कार होता है। **बंगला देश** में अपने प्रति पुराना स्नेह और उष्णता न पाकर, वहां सन् इकहत्तर में पाकिस्तानी फौजों द्वारा किए गए खूनखराबे को याद करते हुए अपने बंगला देशवासी साथियों को उन्होंने इस प्रकार संबोधित किया है :

हम कि ठहरे अजनबी, इतनी मुदारातों के बाद
फिर बनेगें आशना···कितनी मुलाकातों के बाद
कब नजर में आएगी बेदाग सब्जे की बहार
खुन के धब्बे धुलेंगे कितनी बरसातों के बाद
उनसे जो कहने गए थ फैज जां सदका किए
अनकही ही रह गई वह बात सब बातों के बाद

प्रायश्चित और पीड़ा की उक्त अभिव्यक्ति फैज जैसा मार्मिक और मनुष्यता से गहरा लगाव रखने वाला शायर ही कर सकता था, कोई राजनेता नहीं।

संपादकद्वय का वक्तव्य

शमशेर बहादुर सिंह और **मुगीसुद्दीन फरीदी** द्वारा संपादित "फैज" की प्रारंभिक टिप्पणी में संपादकद्वय ने कहा है—"फैज की सन् 71-72 तक की खासी कुछ कविताओं से हिंदी प्रेमी जगत परिचित है। कोई छः सात साल पहले **"शीशों का मसीहा"** नाम से एक संकलन राजकमल ने ही प्रकाशित किया था, जिसमें उस समय तक की प्रायः सभी कविताएं संगृहीत थीं। तब से इस बीच फैज के दो और संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो नागरी लिपि में अभी तक प्रकाशित नहीं हुए यानी **"सरे-वादिए-सीना"** और **"शामे-शहरे-यारां"**। जाहिर है कि फैज के कवि तथा गद्य लेखक के नए रूपों को प्रस्तुत करने के अभिप्राय से यह पुस्तक प्रकाश में आई है। फैज की नई शायरी के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उनके गद्यकार व्यक्तित्व से भी पाठकों की पहचान होती है।

संपादकों के उक्त वक्तव्य के बावजूद, फैज के प्रारंभिक संकलनों अर्थात् **"नक्शे फरियादी"** और "दस्ते **सबा"** से भी गजलें तथा नज्में ली गई हैं। हमारे विचार से यह जरूरी भी था, क्योंकि यही वे कविताएं हैं, जिन्होंने फैज को फैज बनाया हैं। इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि यदि **"तुम आए हो न शबे इंतजार गुजरी है, तलाश में है सहर बार-बार गुजरी है"**, **"निगाह-ओ-दिल को करार कैसा, निशात-ओ-गम में कमी कहां की, वो जब मिले हैं तो उनसे हर** बार की है **उल्फत नए सिरे से"**, **"रंग पैराहन का का खुशबू जुल्फ लहराने का नाम"** या **"दिल में अब यों तिरे भूले हुए गम आते हैं, जैसे बिछड़े हुए काबे में सनम आते हैं"** जैसी हर दिल अजीज गजलें इस संकलन में न होतीं तो फैज के नाम पर प्रकाशित इस संकलन का क्या हश्र होता? यह आकस्मिक नहीं है कि एक सौ बत्तीस पृष्ठों के कविता खंड में संपादकों द्वारा उल्लिखित दो संकलनों में फैज की आधी से भी खासी कम कविताएं संकलित की गई हैं। हां, इतना जरूर हो गया है कि नए संकलनों से रचनाएं लेने के चक्कर में पुराने संकलनों की कुछ ज्यादा बेहतर रचनाएं समुचित रूप में प्रकाश में आने से रह गई हैं। वास्तविकता यह है कि संपादक और प्रकाशक फैज को ज्यादा अच्छे रूप में पेश करने से चूक गए हैं, वर्ना उन्होंने फैज के पद्य और गद्य को अलग-अलग खंडों में छापा होता, जिससे फैज का लेखकीय रूप ज्यादा—कहीं ज्यादा—संपन्न दिखाई दिया होता और हिंदी के पाठकों में फैज की लोकप्रियता को अधिक कुशलता से भुनाने में मदद मिलती।

और यह बाल कविता

फैज ने गजल, गीत नज्म और यहां तक कि बच्चों के लिए भी लिखा है। मगर बच्चों की जिस कविता को इस संकलन में दिया गया है वह खासी कमजोर है और फैज के कवि की छवि को निखारने के बजाए बिगाड़ती ही है। कविता का शीर्षक है **मुनीजा की साल-**

। **मुनीजा** फैज की छोटी बेटी है, ा वर्षगांठ पर उन्होंने 1950 में विता लिखी थी। मुलाहयजा इए :

क मुनीज हमारी बेटी है
ो बहुत ही पियारी बेटी है
म ही कब उसको प्यार करते हैं
बके सब उसको प्यार करते हैं

कथा : शायद कभी जाए

में यह कहने में संकोच नहीं है कि शायर फैज के व्यक्तित्व को इस में पूरे निखार पर पेश करने में ों को आंशिक सफलता ही मिली कि इसमें फैज की बहुत-सी श्रेष्ठ एं आने से रह गई हैं। यद्यपि का गद्यकार रूप **चिंतन खंड** में कर आ सका है, जिसमें दस्ते सबा मेका, **मुद्दत हुई है यार को मेहमां किए हुए,** कविता में अभिव्यक्ति और संप्रेषण, साहित्य : संघर्ष और साधना के दो रूप तथा विश्वशांति का संघर्ष प्रभृति निबंध संकलित किए गए हैं। ये निबंध साहित्य के विविध पक्षों पर फैज का दृष्टिकोण बखूबी पेश करते हैं। इसके अलावा **जीवन** खंड में बचपन से जवानी तक (**मिर्जा जफरुल हसन** से बातचीत,) यादों के साए(**एलिस फैज**)और शामे-गजल(**सैयद सज्जाद जहीर**)आदि निबंध फैज के जीवन के कतिपय पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

यों यह कम महत्व की बात नहीं है कि इस ग्रंथ को पढ़कर फैज की और रचनाएं पढ़ने की इच्छा बलवती होती है तथा उनकी जिंदगी के पोशीदा पहलुओं को और अधिक विस्तार एवं गहराई से जानने की ख्वाहिश पैदा होती है। इस प्रसंग में मुझे अगस्त 1978 में फैज के साथ हुई अपनी मुलाकात याद आ रही है। इस बातचीत के दौरान मैंने उनसे सवाल किया था—क्या जोश साहब की "यादों की बारात" की तरह आप अपनी आत्मकथा नहीं लिखेंगे ? जवाब में फैज ने कहा था, "आटोबायोग्राफी का खयाल आता है कभी-कभी कि कुछ लिखना चाहिए। शायद कभी लिखी भी जाए, पर अभी तो फुरसत नहीं मिल सकी है।"

हमारी कामना है कि फैज को आटोबायोग्राफी लिखने की फुरसत मिले, तभी उनके जीवन की अप्रकाशित और अब तक अज्ञात बहुत-सी घटनाओं, संघर्षों, प्रतिक्रियाओं और उपलब्धियों की विस्तृत तथा फर्स्टहैंड जानकारी मिल सकेगी।

फैज; संपादक : शमशेर बहादुर सिंह, मुगीसुद्दीन फरीदी ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : तीस रुपए।

दो कविताएं

प्रस्मिता

—सत्यपाल चुघ

कहते ही नहीं
बसा रहता है
हमारे रग-रग में—
मेरा अपना घर है
मेरा अपना मकान
मेरी अपनी कार है
मेरी अपनी फैक्टरी
और (हद से हद)
मेरी अपनी पार्टी
पर कितने कहें
'मेरा अपना देश' भी।

वासंती बयार

—धनेंद्र कुमार

कांपती कोंपलें—थरथराते ठूंठ जो कृश-काय बन गए थे आताप-शिशिर आंदोलनों—
हड़तालों-घेराओं और तालाबंदी के उदास दिवसों में।
रेंगते पशु-से मानव ठिठुरती भूख मंद पड़ती चिमनियों के धुंएं
और बेशब्द-ठहरा, गठरी बना नदो का भय।
सोच में पड़ गया समय, क्यों ? और क्यों ??
किसलिए !!!
बह आई, यह वासंती बयार।

सार्थकता का चयन

बनाम

गोपाल

चयन की सार्थकता

पिछले दिनों दिल्ली में 'श्री ओंप्रकाश स्मृति सामारोह' मनाया गया जिसमें **गिरिधर राठी** को उनकी 1979 में प्रकाशित कविता-पुस्तक "बाहर भीतर" के लिए पुरस्कृत-सम्मानित किया गया। इस अवसर पर त्रिवेणी कला संगम में 1970-79 दशक में प्रकाशित हिंदी की "सार्थक कृतियों" की एक प्रदर्शनी आयोजित की गई। जिसमें कुल 48 पुस्तकों को सम्मिलित किया गया। इन पुस्तकों का चुनाव एक चयन समिति ने किया जिसके संदस्य **स० ही० वात्स्यायन, नामवर सिंह, राजेंद्र यादव, कुंवर नारायण** और **अशोक वाजपेई थे।**

इस सूची के संबंध में "श्री ओंप्रकाश स्मृति समारोह" के संयोजक **सौमित्र मोहन** का दावा है कि "हिंदी में प्रकाशित पिछले दस वर्षों की सार्थक (सिग्निफिकेंट) कृतियों का ऐसा सूचीपत्र पहली बार तैयार किया गया है। हो सकता है कि यह एक नई चर्चा का माध्यम बने, या फिर सार्थक कृतियों के मूल्यांकन के बुनियादी सवाल को उठाए। मुझे विश्वास है कि यह सूचीपत्र हिंदी के लेखकों, पाठकों और विचारकों को कुछ नया सोचने के लिए प्रेरित करेगा।"

यदि मैं कहूं कि यह दावा सर्वथा निराधार और बेमानी है तो यह अपने प्रति और समस्त हिंदी संसार के प्रति गैर ईमानदारी नहीं होगा। यह सूची पहली ही दृष्टि में यह आभास देती है कि हिंदी साहित्य नितांत दरिद्र और अविकसित है। पूरे दशक में, हिंदी में, केवल 36 सार्थक मौलिक कृतियों का प्रकाशन किसी भी हिंदी भाषी के लिए शर्म से सिर झुका लेने वाली बात है। पर सूची में सम्मिलित पुस्तकों पर दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूची बहुत गंभीरतापूर्वक लेने योग्य नहीं है। दुर्भाग्य फी बात है कि इस सूची के साथ हिंदी के विशिष्ट और सम्माननीय विद्वानों के नाम जुड़े हुए हैं।

संयोजक ने उक्त सूची की निर्माण प्रक्रिया का हवाला भी अपने पत्र में दिया है। उन्होंने लिखा है "हमें लगभग 2300 पुस्तकों की सूचना 98 प्रकाशकों से प्राप्त हुई थी। समिति के पांच में से चार सदस्यों ने अपना-अपना स्वतंत्र चयन किया। सार्थक पुस्तकों की सूची में केवल उन्हीं पुस्तकों को स्थान दिया गया, जिन्हें चार में से कम से कम तीन सदस्यों का समर्थन प्राप्त था।"

मुझे लगता है कि चयन प्रक्रिया का श्रीगणेश ही गलत हो गया है। गत दशक में हिंदी में कम से कम छह हजार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से केवल 2300 पुस्तकों की सूची चयनकर्त्ताओं के समक्ष रखी गईं, और वह भी हिंदी प्रकाशकों द्वारा भेजी हुई सूची, जिनकी साहित्यिक उत्तरदायित्व की भावना बहुत विश्वसनीय नहीं है। सही शुरूआत यह होती कि चयनकर्त्ताओं ने "हिंदी साहित्याब्दकोश" (1970-77) से इस अवधि में प्रकाशित पुस्तकों की सूची प्राप्त कर ली होती और तत्पश्चात् "सार्थक" पुस्तकों के चयन में हाथ लगाया होता। ऐसा न होने से बहुत-सी रचनाएं, जो "सार्थक" मानी जा सकती हैं, इस सूची में स्थान नहीं प्राप्त कर सकी हैं।

एक बुनियादी सवाल "सार्थक" रचनाओं के निर्णय से जुड़ा हुआ है। "सार्थक" रचना की पहचान क्या है? मैं समझता हूं कि इस पद का निश्चित और निर्विवाद अर्थ-निर्धारण संभव नहीं है। पर हम मोटे रूप में "सार्थक" रचनाओं की पहचान कर सकते हैं।

समीक्ष्य सूची में कहा गया है कि ".....यह अनुभव किया गया कि ऐसी सार्थक (सिग्निफिकेंट) कृतियां भी होती हैं—भले ही उनकी संख्या कम हो—जो किसी भाषा का गौरव होती हैं।" पर इस कथन से 'सार्थक' रचनाओं की कोई पहचान नहीं बनती। चयन समिति ने गत दशक में प्रकाशित जिन कृतियों को 'सार्थक' और 'हिंदी भाषा का गौरव' समझा है, उन्हें उक्त सूची में सम्मिलित करने की अनुशंसा की है। पर इस अनुशंसा में ऐसी असंगतियां हैं जिनके कारण सूची अपर्याप्त और दोषपूर्ण हो गई है।

हम तनिक विस्तार में इस "चयन" के औचित्य पर विचार करें। सबसे पहले उपन्यासों को लें। गत दशक में प्रकाशित लगभग सात सौ उपन्यासों में केवल बारह उपन्यासों को "सार्थक" रचनाओं के रूप में चुना गया है। ये रचनाएं हैं: गजानन माधव मुक्ति बोध कृत **विपत्र** (1970), मन्नू मंडारी कृत

आपका बंटी (1971), गिरिराज किशोर कृत **जुगलबन्दी** (1973), भीष्म साहनी कृत **तमस** (1973), हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **पुनर्नवा** (1973), जगदंबा प्रसाद दीक्षित कृत **मुरदा घर** (1974), यशपाल कृत **मेरी तेरी उसकी बात** (1974), महेंद्र भल्ला कृत **दूसरी तरफ** (1976), गोबिंद मिश्र कृत **लाल पीली जमीन** (1976), रमेशचंद्र शाह कृत **गोबर गणेश** (1977), कृष्णा सोबती कृत **जिंदगीनामा** (1979) और विनोद कुमार शुक्ल कृत **नौकर की कमीज** (1979)। निस्संदेह इनमें कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जिन्हें उच्च कोटि की नहीं माना जा सकता और अगर इन्हें आधार माना जाए तो "सार्थक" उपन्यासों की सूची में हिंदी के एक सौ उपन्यास शामिल होने का दावा कर सकते हैं। इस सूची में इस दशक में प्रकाशित कम से कम आधे दर्जन से अधिक ऐसे उपन्यास नहीं शामिल किए गए हैं जो किसी भी कसौटी पर "सार्थक" रचना के रूप में उल्लेखनीय माने जा सकते हैं। मेरी दृष्टि में ये उपन्यास (प्रकाशन-क्रम से) हैं : गिरीश अस्थाना कृत **धूप छांही रंग** (1970), अमृतलाल नागर कृत **मानस का हंस** (1972) और **नाच्यो बहुत गोपाल** (1977), नरेंद्र कोहली कृत **दीक्षा** (1975), **अवसर** (1976) **संघर्ष की ओर** (1977) और **युद्ध** (1979), हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **अनामदास का पोथा** (1976), विवेकी राय कृत **लोक ऋण** (1977), राही मासूम रजा कृत **कटरा बी आर्जू** (1979); और यदि **मेरी तेरी उसकी बात, दूसरी तरफ, लाल पीली जमीन, जिन्दगीनामा, नौकर की कमीज** आदि को आधार मान लिया जाए तो ममता कलिया कृत **बेघर** (1971) अमृतलाल नागर कृत **एकदा नैमिषारण्ये** (1972), जगदीश चंद्र कृत **धरती धन न अपना** (1972), भगवतीचरण वर्मा कृत **प्रश्न और मरीचिका** (1973), उपेंद्र नाथ अश्क कृत **बांधो न नाव इस ठांव** (1974), शिव प्रसाद सिंह कृत **गली आगे मुड़ती है** (1974), देवेश ठाकुर कृत **भ्रम भंग** (1975), रामदरश मिश्र कृत **अपने लोग** (1976), महीप सिंह कृत **यह भी नहीं** (1976), भीमसेन त्यागी कृत **नंगा शहर** (1977), अमृत राय कृत **धुआं** (1977), मन्नू भंडारी कृत **महाभोज** (1979) जैसे इस अवधि में प्रकाशित दर्जनों उपन्यासों को इस सूची में न शामिल करने का औचित्य समझ में नहीं आता।

एक और बात समझ में नहीं आती। "सार्थक" उपन्यासों की सूची में यू०आर० अनंतमूर्त्ति के कन्नड़ से अनूदित उपन्यास **संस्कार** को भी शामिल किया गया है जबकि 'ज्ञानपीठ पुरस्कार,' से सम्मानित और अन्य दर्जनों श्रेष्ठ अनूदित उपन्यासों की उपेक्षा कर दी गई है।

1970-79 दशक में लगभग 500 कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें केवल छह— गजानन माधव मुक्तिबोध कृत **सतह से उठता आदमी** (1971), रघुबीर सहाय कृत **रास्ता इधर से है** (1972), कुंवर नारायण कृत **आकारों के आसपास** (1971), काशीनाथ सिंह कृत **आदमीनामा** (1978), रामकुमार कृत **एक लंबा रास्ता** और विजयदान देथा कृत **दुविधा और अन्य कहानियां** (1979) को "सार्थक" कहानी संग्रहों के रूप में चुना गया है। इनमें अंतिम संग्रह की कहानियां राजस्थानी से अनूदित हैं। पता नहीं, चयनकर्त्ताओं ने इस चुनाव में कौन-सी कसौटी अपनाई है, पर इस सूची में धर्मवीर भारती कृत **बंद गली का आखिरी मकान** (1970), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत **पागल कुत्तों का मसीहा** (1970), विजयमोहन सिंह कृत **टट्टू सवार** (1971), ज्ञानरंजन कृत **यात्रा** (1971), दूधनाथ सिंह कृत **सुखांत** (1971), गंगा प्रसाद विमल कृत **अतीत में कुछ** (1972), रवीन्द्र कालिया कृत **काला रजिस्टर** (1972), उषा प्रियंवदा कृत **कितना बड़ा झूठ** (1972), मणिका मोहनी कृत **खत्म होने के बाद** (1972), निरुपमा सेवती कृत **खामोशी को पीते हुए** (1972), फणीश्वर नाथ रेणु कृत **अगिनखोर** (1973), इब्राहीम शरीफ कृत **कई सूरजों के बीच** (1973), गिरिराज किशोर कृत **शहर दर शहर** (1976), वल्लभ सिद्धार्थ कृत **शेष प्रसंग** (1976), कामता नाथ कृत **छुट्टियां** (1977), आदि कहानी-संग्रहों को न शामिल करने का औचित्य समझ में नहीं आता।

चर्चित दशक में लगभग 525 कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आठ को—फिराक गोरखपुरी कृत **बज्मे जिंदगी रंगे शायरी** (1970), भवानी प्रसाद मिश्र कृत **बुनी हुई रस्सी** धूमिल कृत **संसद से सड़क** (1972), श्रीकांत वर्मा कृत **जलसा घर** (1973) शमशेर बहादुर सिंह कृत **चुका भी हूं नहीं मैं** (1975), भारत भूषण अग्रवाल कृत **उतना वह सूरज है** (1977), सौमित्र मोहन कृत **लुकमान अली तथा अन्य कविताएं** (1975) और रघुबीर सहाय कृत हंसो हंसो जल्दी हंसो (1975)—इस सूची में शामिल किया गया है। मेरी राय में इस दशक में प्रकाशित कई अन्य संकलनों को भी इस सूची में शामिल किया जाना चाहिए था; मसलन : दिनकर कृत **हारे को हरि नाम** (970), केदार नाथ अग्रवाल कृत **आग का आईना** (1970), भारत भूषण अग्रवाल कृत **एक उठा हुआ हाथ** (1971), जगदीश गुप्त कृत **युग्म** (1973), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत कुआनो नदी (1973) अज्ञेय कृत **पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं** (1974), नागार्जुन कृत **तालाब की मछलियां** (1975), दुष्यंत कुमार कृत **साये में धूप** (1975), गिरजा कुमार माथुर कृत भीतरी नदी की यात्रा (1975), चंद्रकांत देवताले कृत दीवारों पर खून से (1975) आदि।

1970-79 दशक में प्रकाशित नाटकों में "सार्थक" कृतियों के रूप में आठ पुस्तकों को स्थान मिला है जिनमें केवल तीन मौलिक और पांच अनूदित हैं। सौभाग्यशाली मौलिक नाटक हैं : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत **बकरी** (1974), गिरिराज

किशोर कृत **प्रजा ही रहने दो** (1977) और भीष्म साहनी कृत **हानूश** (1977)। गत दशक में लगभग 240 मौलिक नाटक प्रकाशित हुए हैं जिनमें केवल तीन का सार्थक होना हिंदी नाट्य साहित्य पर जबरदस्त टिप्पणी है। पर बात ऐसी नहीं हैं। इस दशक में प्रकाशित एक दर्जन से अधिक नाट्य रचनाएं चर्चित सूची में समाविष्ट पुस्तकों को देखते हुए "सार्थक" कृतियां मानी जा सकती हैं। मैं इस प्रसंग में जिन नाट्य रचनाओं का नामोल्लेख करना चाहूंगा, वे हैं : रेवती सरन शर्मा कृत **न धर्म न ईमान** (1970), लक्ष्मी नारायण लाल कृत **मिस्टर अभिमन्यु** (1971)और **यक्ष प्रश्न**(1976), ललित मोहन थपल्याल कृत **काला राजा** (1971) रमेश बक्षी कृत **देवयानी का कहना है** (1972), मोहन राकेश कृत **अंडे के छिलके** (1973), रेवती सरन शर्मा कृत **दीपशिखा** (1973), सत्यव्रत सिन्हा कृत **अमृत पुत्र** (1974), विष्णु प्रभाकर कृत **टूटते परिवेश** (1974) और **तीसरा आदमी** (1977), जगदीश चंद्र माथुर कृत **दशरथ नन्दन** (1974), विपिन कुमार.अग्रवाल कृत **लोटन** (1974), सुशील कुमार सिंह कृत **सिंहासन खाली है** (1974), हमिदुल्ला कृत **दरिंदे** (1975), मणि मधुकर कृत **रसगंधर्व** (1975), नरेंद्र कोहली कृत **शम्बूक की हत्या** (1975), सुरेंद्र वर्मा कृत **सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक** (1975) और **आठवां सर्ग** (1976), भारत भूषण अग्रवाल कृत **अग्निलीक** (1976), दया प्रकाश सिन्हा कृत **कथा एक कंस की** (1976) आदि।

इस दशक के अनूदित नाटकों में विजय तेंदुलकर कृत **सखाराम बाइंडर** (1974), **घासीराम कोतवाल** (1974) **खामोश, अदालत जारी है** (1973) तथा गिरीश कारनाड़ कृत **हय बदन** (1975) और **तुगलक** (1977) को "सार्थक" कृतियों के रूप में चुना गया है। इस चुनाव का कोई भी औचित्य समझ में नहीं आता। इसी दशक में हिंदीतर भारतीय भाषाओं से बादल सरकार कृत **पगला घोड़ा** (1974), **राम श्याम जदु** (1976), **वल्लभपुर की रूप कथा** (1976), **जुलूस** (1978) **बड़ी बुआ जी** (1977), मधुराय कृत **किसी एक फूल का नाम लो** (1974) और **कुमार की छत पर** (1975), पु० ल० देशपांडे कृत **कस्तूरी मृग** (1975), जगन्नाथ दास कृत **सूर्यास्त** (1976), वसंत कानेटकर कृत **हिमालय की छाया** (1978) आदि अनूदित नाटक प्रकाशित हुए जिनका उल्लेख इस सूची में आवश्यक था। विदेशी भाषाओं से अनूदित नाटकों में सैमुअल बेकेट कृत **गाडो के इंतजार में** (1970) और **आखिरी खेल** (1971) तथा ब्रेख्त कृत **खड़िया का घेरा**(1970) का उल्लेख भी इस सूची में होना चाहिए था।

चर्चित सूची में निबंध शीर्षक के अंतर्गत निर्मल वर्मा कृत **हर बारिश में** (1970) और **शब्द और स्मृति** (1976) गजानन माधव मुक्तिबोध कृत **नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र** (1971)दुर्गा भागवत कृत **व्यास पर्व** तथा सच्चिदानन्द वात्स्यायन कृत **संवत्सर**(1978)को शामिल किया गया है। लेकिन पता नहीं चलता है कि सूची-निर्माताओं ने निबंध पद को किस अर्थ में लिया है। पुस्तकों को यदि "निबंध संग्रह" कहा जाए तो निबंध के संबंध में हमारा सारा पूर्व बोध गड़बड़ा जाता है। **नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र** आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है और "संवत्सर" काल चिंतन से संबद्ध एक पूरी किताब है। इसी प्रकार **व्यास पर्व** में पौराणिक चरित्रों को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। सबसे आश्चर्य की बात है कि चर्चित दशक में उभरे हुए हिंदी के सबसे उल्लेखनीय और मूर्धन्य ललित निबंधकार कुबेर नाथ राय का इस सूची में नाम ही नहीं है। इसी दशक में कुबेर नाथ राय के **रसआखेटक** (1970), **गंधमादन** (1972), **विषाद योग** (1973), **निषाद बांसुरी** (1974), **पर्णमुकुट** (1978) आदि निबंध संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनका "सार्थक" कृतियों के रूप में चयन न करके चयनकर्त्ताओं ने घोर साहित्यिक अपराध किया है। इस दशक के अन्य निबंध-संग्रहों में, जिन्हें "निबंध" या "ललित निबंध" की संज्ञा दी जा सकती है, धर्मवीर भारती कृत **कहनी अनकहनी** (1970) तथा **पश्यन्ती** (1970) सच्चिदानंद वात्स्यायन कृत **आलवाल** (1971) और **लिखि कागद कोरे** (1972), हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **आलोक पर्व** (1972), शिव प्रसाद सिंह कृत **कस्तूरी मृग** (1972), अमृत राय कृत **बतरस** (1973), जगदीश चंद्र माथुर कृत **बोलते क्षण** (1972), विद्या निवास मिश्र कृत **मेरे राम का मुकुट भींग रहा है** (1974) और **कंटीले तारों के आर पार** (1976), विवेकी राय कृत **जुलूस रुका है** (1977) आदि का भी उल्लेख अपेक्षित था। इसी प्रकार संस्मरणात्मक निबंधों के संकलनों में जगदीश चंद्र माथुर कृत **जिन्होंने जीना जाना** (1971) तथा **बोलते क्षण** (1973), अमृत लाल नागर कृत **हम फिदाये लखनऊ** (1973), श्रीकांत वर्मा **अपोलो का रथ** (1975), फणीश्वर नाथ रेणु कृत **ऋण जल धनजल** (1977), विष्णु कांत शास्त्री कृत **स्मरण को पाथेय बनने दो** (1977) शंकर दयाल सिंह कृत **कुछ ख्यालों में कुछ ख्वाबों में** आदि का समावेश भी इस सूची में भी अपेक्षित था।

चर्चित दशक की चार आलोचना-पुस्तकों को भी "सार्थक" कृतियों की सूची में सम्मिलित किया गया है। उल्लेखनीय है कि उक्त दशक में लगभग 500 शोध प्रबंध और एक हजार आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पंद्रह सौ पुस्तकों में केवल चार का "सार्थक" होना हिंदी आलोचक समाज पर एक भयंकर टिप्पणी है। पर दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है, और ऐसा कहना सही भी होगा, कि यह चयन अविवेकपूर्ण और पक्षपात से भरा हुआ है। चुनी हुई "सार्थक" आलोचना पुस्तकें हैं : राम विलास शर्मा कृत **निराला की साहित्य साधना** (द्वितीय खंड), रमेश चंद्र शाह कृत **छायावाद की प्रासंगिकता,**

विद्या निवास मिश्र कृत **रीति विज्ञान** और मलयज कृत **कविता से साक्षात्कार**। यह मजेदार तथ्य है कि **निराला की साहित्य साधना** के केवल द्वितीय भाग को "सार्थक" रचना माना गया है तृतीय भाग को नहीं। इसका औचित्य समझ में नहीं आता। अन्य तीन पुस्तकों का भी "सार्थक" कृतियों के रूप में चयन चयनकर्त्ताओं के मनमानेपन का ही द्योतक है। हिंदी का शोध और आलोचना साहित्य इतना दरिद्र नहीं है कि एक दशक में केवल चार कृतियों को "सार्थक" समझा जाए। नीचे उदाहरण के रूप में कुछ आलोचना पुस्तकों के नाम दिए जा रहे हैं जिन्हें सार्थक कृतियों के रूप में अस्वीकार करने का कोई आधार नहीं हो सकता :-

चे लिसेवकृत **सुमित्रा नंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता** (1970), हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **मध्य कालीन बोध का स्वरूप** (1970), राम स्वरूप चतुर्वेदी कृत **मध्य कालीन हिंदी काव्य भाषा** (1974) डा० नगेंद्र कृत **भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका** (1974), राम विलास शर्मा कृत **भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा** (1975)तथा **महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण** (1977) परमानंद श्रीवास्तव कृत **उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा** (1976), हरदयाल कृत **आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजना शिल्प** (1978), सिद्धनाथ कुमार कृत **प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन** (1978) आदि। यह सूची और बड़ी हो सकती है, यदि सभी आलोचना पुस्तकों को पढ़कर पुस्तकों का चयन किया जाए।

समीक्ष्य सूची में "वैचारिक लेखन" शीर्षक के अंतर्गत तीन पुस्तकें सम्मिलित की गई हैं। वे हैं : राम शरण शर्मा कृत **भारतीय सामंतवाद**, जे०डी० कौसाम्बी कृत **मिथक और यथार्थ** तथा गुन्नार मिर्डल कृत **विश्व निर्धनता को चुनौती** उल्लेखनीय है कि ये तीनों पुस्तकें अनुवाद हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदी में पूरे दशक में "वैचारिक लेखन" के नाम पर कुछ भी नहीं लिखा गया। यह तो सही है कि हिंदी में वचारिक लेखन की कमी है, पर अनूदित ग्रंथों में उपर्युक्त तीन के चुनाव का क्या औचित्य है, यह समझ में नहीं आता, जबकि इस अवधि में सैकड़ों ग्रंथों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इनमें महेंद्र भारद्वाज द्वारा अनूदित "विश्व निर्धनता को चुनौती" की भाषा तो इतनी भ्रष्ट है कि इसे "सार्थक" रचना कहना इस पद का अवमूल्यन करना है।

जीवनी साहित्य में केवल एक रचना को, विष्णु प्रभाकर कृत आवारा मसीहा (1974) को सार्थक समझा गया है। यह निर्णय सही है पर इसके साथ शिव प्रसाद सिंह कृत **उत्तर योगी श्री अरविंद** (1972) और शंभु प्रसाद शाह कृत **गोविंद वल्लभ पंत : एक जीवनी** (1972) का समावेश भी अपेक्षित था। हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा के अंतिम दो खंडों-**नीड़ का निर्माण फिर** (1970) और **बसेरे से दूर** (1977) का उल्लेख भी इस सूची में किया जाना चाहिए था।

समीक्ष्य सूची में जिस विधा की पूरे तौर पर उपेक्षा कर दी गई है, वह है व्यंग्य विधा। गत दशक में हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचनाओं के कई संकलन **ठिठुरता हुआ गणतंत्र** (1970), **शिकायत मुझे भी है** (1970), **रानी नागफनी की कहानी** (1971) **अपनी अपनी बीमारी** (1972), **वैष्णव की फिसलन** (1972) प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें "सार्थक" रचनाएं मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसके अलावा नरेंद्र कोहली कृत **एक लाल तिकोन** (1970), शरद जोशी कृत **किसी बहाने** (1971) रवींद्र त्यागी कृत **कृष्णवाहन की कथा** (1971) अमृत लाल नागर कृत **कृपया बाएं चलिए** (1973) आदि पुस्तकों को भी सार्थक रचनाओं की सूची में शामिल किया जा सकता था।

1970-79 दशक में हिंदी में प्रकाशित "सार्थक" रचनाओं की सूचीं में अनुवादों को शामिल करने का औचित्य भी समझ में नहीं आता। इसके पक्ष में यह कहा गया है कि एक प्रकाशक की स्मृति में आयोजित समारोह में हमारा दृष्टिकोण हिंदी में प्रकाशित पुस्तकों की सूची बनाना था, केवल हिंदी पुस्तकों की नहीं। यह दलील बड़ी लचर है। प्रश्न है कि ये अनूदित कृतियां किस माने में सार्थक हैं ? क्या ये अपने मूल रूप में "सार्थक" कृतियां हैं या अनूदित रूप में या दोनों रूपों में ? चयनकर्ताओं के सामने अनूदित रचनाओं की "सार्थकता" की कोई निश्चित कसौटी रही हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। जैसा हम देख चुके हैं, पूरे दशक में केवल एक अनूदित उपन्यास—यू०आर० अनंतमूर्त्ति कृत **संस्कार**—को सार्थक रचना स्वीकार किया गया है, जबकि उक्त दशक में **संस्कार** के स्तर के दर्जनों उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए हैं। उदाहरण के लिए शौक्त सिद्दीकी कृत **खुदा की बस्ती** (1970), विश्वनाथ सत्यनारायण कृत **सहस्रफण** (1970), किस्म गोर्की कृत **माँ** (1971) आशापूर्णा देवी कृत **प्रथम प्रतिश्रुति** (1972) मुल्कराज आनंद कृत **सूरजमुखी** (1973, सतीनाथ भादुड़ी कृत **ढोड़ाय चरितमानस** (1974), गोपीनाथ महान्ती कृत **माटी मटाल** (1974), पी० केशवदेव कृत **पड़ोसी** (1976), अखिलन कृत **चित्रित प्रतिमा** (1976), श्री रंग कृत **अनादि अनंत** (1977), आर०बी० कुलकर्णी कृत **प्रामायण** (1977), एम० एल० भैरप्पा कृत **गृहभंग** (1977) लेवतोल्सतोय कृत **पुनरुत्थान** (1977) आदि। इसी प्रकार कविता, नाटक और समाज विज्ञान की दर्जनों अच्छी पुस्तकें इस दशक में प्रकाशित हुई हैं जिनका उल्लेख "सार्थक' रचनाओं की सूची में नहीं हुआ है।

कुल मिलाकर, कथित "सार्थक" कृतियों की यह सूची प्रामाणिक और निर्दोष नहीं मानी जा सकती। इसमें न केवल

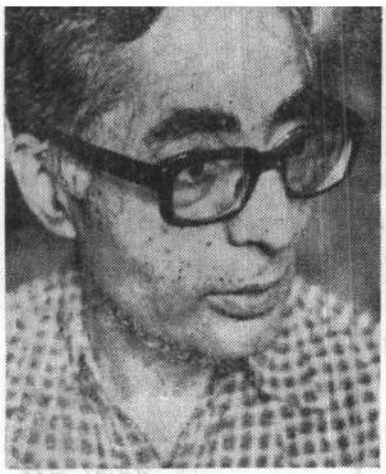

हल्की सी उदासी में डूबा रामकुमार का रचना संसार

बलराम

संगीत ने पहले पहल अपनी ओर खींचा था युवा रामकुमार को। तब वे वायलिन बजाया करते थे और हिंदुस्तान का बहुत बड़ा संगीतज्ञ बनने का सपना देखने लगे थे। एम०ए० करते समय उनका रूझान नाटकों की ओर हुआ और वे अभिनय करने लगे। इसी समय उनके मन में नाटक लिखने की बात आई और वे लेखक बनने का सपना देखने लगे। **चित्रकला तो सबसे बाद में उनकी आकांक्षा के रूप में उदित हुई और फिर वे पूरी तरह उसकी गिरफ्त में आ गए।** आज रामकुमार हिंदी के उन विरले कथाकारों में से एक हैं, जो साहित्य जितना ही महत्वपूर्ण स्थान चित्रकला में भी बना चुके हैं, साहित्य से कुछ ज्यादा ही।

1924 ई० में **शिमला** में जन्मे रामकुमार बहुत ही शर्मीले और चुप्पे की हद तक मितभाषी हैं। अल्पशिक्षिता मां के पारंपरिक संस्कारों से ऊभ-चूभ रामकुमार के संपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व पर उनके **निश्छल बचपन की नास्टैल्जिक छाया हमें सर्वत्र मिलती है,** वे चाहे उनकी कहानियां हों, उपन्यास या चित्र।

पिता सरकारी नौकरी में थे और उनका तबादला प्रायः दिल्ली से शिमला होता रहता था। इस रूप में रामकुमार दिल्ली और शिमला से निरंतर जुड़े रहे। पहाड़ी दृश्यों, प्राकृतिक सुषमा, गंध और महानगरीय शोर के बीच में गुजरे बचपन से रामकुमार को कुछ ज्यादा ही लगाव है। बचपन की यादें और स्मृतियां वैसे भी मोहक होती हैं। अच्छे और भरे-पूरे परिवार में पलने-बढ़ने के बावजूद रामकुमार के **जीवन और कृतित्व में कहीं न कहीं हल्का-सा अकेलापन नजर आता है।** जिसमें हल्के से अवसाद की छाया सर्वत्र व्याप्त है। अपनी रचनाओं और चित्रों में वे बड़े नगर में प्रवेश करते हैं और शब्दों, बिंबों तथा रंगों-रेखाओं के सहयोग से **अकेलेपन और हल्के अवसाद से जूझते कमजोर लोगों की स्थितियों को बड़ी आत्मीयता से रूपायित करते हैं।**

हरकोर्ट बटलर स्कूल में वे एक औसत छात्र थे। उस समय उन्होंने खूब पढ़ा, खासकर हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं की पुस्तकें, जो उनकी बड़ी बहन पुस्तकालय से लाती थीं। दिल्ली के खुले वातावरण की खुली जिंदगी उन्हें रास नहीं आई। कक्षाओं के बाद साइकिल से वे सीधे घर पहुंचते और किताबों की दुनिया में खो जाते। बी० ए० करने तक वे पाठक से आगे लेखक बनने की कोशिश करने लगे थे। उस समय जो कहानियां लिखीं, वो 'हिंदू', 'हंस' तथा 'प्रतीक' जैसी विशिष्ट पत्रिकाओं में छपीं।

रामकुमार का चित्रकार बनना पूर्णतः एक संयोग है। 1941 में जब वे एम०ए० कर रहे थे, कनाट प्लेस में उन्हें एक बोर्ड दिखा—**शारदा उकील आर्ट स्कूल।** बोर्ड देखकर अचानक उनके मन में आया कि छात्र के रूप में इस स्कूल में दाखिला लिया जाए। फिर क्या था, उन्होंने दाखिला ले लिया और आज देश के प्रमुख चित्रकारों में उनकी गणना होती है।

एम०ए० करने के बाद जीविका की समस्या थी। सो चाचा के साथ बैंकर्स का काम करने लगे, लेकिन जल्दी ही उसे छोड़ दिया। इधर-उधर पार्ट टाइम काम करने लगे। कुछ अनुवाद भी किया। पत्नी भले परिवार की भद्र महिला थीं, सो उन्होने उनके फ्रीलांस जीवन को प्रोत्साहित किया और खुद एक स्कूल में पढ़ाकर गृहस्थी को संतुलित बनाये रखा। बाद में उनकी पत्नी सांस्कृतिक विभाग में अनुवादक हो गईं।

1946 में आल इंडिया फाइन आर्ट एंड क्राफ्ट सोसायटी ने अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया। इस प्रदर्शनी में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय चित्रकला देखने और परखने का अवसर प्रदान किया। सन् 48 में उन्होंने अपने चित्र विभिन्न कला समूहों की प्रदर्शनियों में शामिल करने शुरू किए और तभी 'शिल्पीचक्र' के सदस्य हुए। दुर्भाग्य से 'शिल्पीचक्र' ने कभी इन्हें इस काबिल नहीं समझा कि इनकी एकल प्रदर्शनी आयोजित करता।

और फिर रजा से मुलाकात हुई। रजा ने इन्हें बंबई बुलाया और सूजा जैसे युवा चित्रकारों से मिलाया। मित्रों के सहयोग से 1950 में वे पेरिस पहुंच गए। दुनिया के सबसे खूबसूरत महानगर पेरिस ने रामकुमार के व्यक्तित्व में आशावादी परिवर्तन किया। वे कुछ फुर्तीले और तेज हो गए, वहां वे युवा

चित्रकारों और लेखकों से मिले तथा फ्रेंच कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली। अपने पेरिस प्रवास का सुंदर, हृदयग्राही और संवेदनात्मक चित्रण उन्होंने अपनी यात्रा पुस्तक 'योरोप के स्केच' में किया है। 1955 में हेलसिंकी के शांति सम्मेलन में भाग लिया और वहां से हंगरी सिर्फ इसलिए गए कि वहां उन्हें जार्ज लुकाच से मिलना था।

रजा, सूजा और पद्मसी की तरह वे विदेश में ही नहीं बस गए, बल्कि 1951 में भारत लौट आए। यद्यपि वे पूरी तरह योरोपीय संस्कृति से आप्लावित थे, फिर भी देश की जड़ों से अपने को काट नहीं सके। हो सकता है कि देशप्रेम से ज्यादा वे अपने बचपन के परिवेश की नास्टेल्जिया के शिकार हुए हों, पर वे लौट आए। उस समय हिंदुस्तान की कला निष्प्राण-सी थी। उन्होंने आकर पुनः 'शिल्पीचक्र' की सदस्यता ग्रहण कर ली।

1959 के आसपास रामकुमार का झुकाव बनारस की ओर हुआ। बनारस एक पावन और लगभग मिथकीय शहर है। बनारस रामकुमार को मृगमरीचिका-सा लगता है। उन्होंने शाम की गोधूलि बेला और भोर की उषा बेला का मनोरम अंकन किया है। शहर की भीड़ और गलियों के शोरगुल से मुक्त पानी में डुबकी लगाते लोग, नावें तथा सुनसान घरों की छतें देखकर लगता है कि आत्माएं तहखानों में बंद हैं। ऐसे चुपचाप प्रतीक्षारत बनारस का चित्रण रामकुमार ने किया है।

1966 में वे अमूर्तता की ओर अग्रसर हुए तो कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया कि वे आत्म तिरस्कार की चेतना से ग्रस्त हो गए हैं। 1968 आते-आते रामकुमार की दृष्टि सौंदर्यवादी हो गई और उन्होंने नए-नए रंगों और बिंबों का चुनाव कर अपनी कला को नया आयाम प्रदान किया।

आरंभिक चित्र

रामकुमार के आरंभिक चित्रों के विषय शहर के लोगों से संबंधित हैं। शहरी और औद्योगिक समाज का अलगाव इन चित्रों की विशेषता है। वेशभूषा और आकार-प्रकार से ये निम्न मध्यवर्गीय शहरी परिवारों के चित्र प्रतीत होते हैं।

चित्रात्मक रूप से इनका प्रस्तुतीकरण लगभग एक-सा है—एक आकृति या उसकी केंद्रीय भूमि में एक सीमित ढलवां मध्यभूमि और उसकी पृष्ठभूमि में क्षितिज पर आकाश को छूती हुई बहुखंडीय इमारतें, कभी कभी औद्योगिक शहरी बिंदुओं से आकाश की रेखा के साथ मीनारें, चिमनियां और टेलीग्राफ के खंभे, जो कि ज्यादातर भूरे रंग के होते हैं या कभी कभी बिना सूरज या चांद के काले रंग से पुता हुआ आकाश, जिस पर असंतुष्ट व्यक्तियों के पदचिन्ह आदि।

न तो रामकुमार के चित्र और न खुद वे कोई क्रांतिकारी विवरण प्रस्तुत करते हैं, फिर भी उनमें एक गहरा संदेश छिपा रहता है। भयंकर वास्तविकताओं से टूटे और हारे हुए आम आदमी के चित्रण में उन्होंने गहरी रूचि प्रदर्शित की है। इनके चित्रों का विशिष्ट गुण इनकी करुणा है, जिसमें रोमांटिक और नास्टेल्जिक झुकाव है। रामकुमार धनबाद के शिल्प से प्रभावित रहे हैं। वे अपने चित्रों को अपनी संवेदना देते रहे हैं, जिससे उनमें अपनी एक विशिष्ट निजता आ गई है।

कहानीकार के रूप में

शहर के नीरस इलाकों में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार के लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी का चित्रण रामकुमार ने अपनी कहानियों में प्रायःकिया है। खासतौर से उनकी वेशभूषा, तौर-तरीकों और संस्कृति का छोटे-छोटे कमरों की स्वादहीन हवा, बदबू फेंकते मोजों और छोटी-छोटी चीजों के साथ सूनेपनमें खोए हुए लोगों के बारे में उन्होंने विस्तार से लिखा है तथा अपने सपनों एवं भावनाओं के लिए कलर्क परिवारों की अवसरवादिता तथा कमीनेपन को इन्होंने अपनी कहानियों में चित्रित किया है।

रामकुमार की कहानियों के प्रमुख पात्र मध्यवर्ग के मंझोली उम्र के वे लोग हैं, जो शहर के आम स्थानों के बेहद परिचित वातावरण में थके-हारे हल्की-सी उदासी में डूबे रोजमर्रा की जिंदगी को किसी निष्कासित की तरह झेल रहे हैं और जीवन के अन्य मोर्चों पर बेहद अकेले हैं।

उन्होंने अपनी किसी अनजानी असफलता और उपहासास्पद जिद्दीपन के शिकार लोगों का चित्रण ज्यादा किया है, क्योंकि उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि अपनी भीरूता के कारण ही वे यह सब भुगत रहे हैं। वे औरतों से प्रायः नाराज रहते हैं, क्योंकि वह प्यार के आश्वासन और मांग के आग्रह को प्रस्तुत

(शेष पृष्ठ 47 पर)

लाहौल--एक यात्रा

—रामनाथ पसरीचा

रोहतांग कुल्लू घाटी और लाहौल के बीच एक आसान दर्रा है। उसकी ऊंचाई केवल 13,050 फुट है। मगर इस पर अचानक चलने वाली तेज़ हवाओं और बर्फ के तूफानों की वजह से इसे एक खतरनाक दर्रा माना जाता है। रेंगती, बलखाती बस की सड़क जो **बारालाछाला** के ऊपर होती हुई लेह तक जाती है, साल में सदियों के सात महीने बर्फ में दबी रहती है। लोग मई-जून के महिनों में इसे पैदल पार करते हैं, मगर यह एक कठिन काम है। रोहतांग के ऊपर ठंढी हवा और बर्फबारी को झेलते हुए लगातार दस घटों में दस किलोमीटर चलकर जब हम लाहौल के पहले गांव खोकसार पहुंचे तो शाम हो चुकी थी। हमारे कपड़े और जूते भीग चुके थे और थकावट ने हमें चूर कर दिया था!

लेकिन अगले दिन मौसम साफ था। लाहौल के पहाड़ चट्टानी और नंगे है। उन पर मई के महीने में भी ढेरों बर्फ थी। चंद्रा नदी जो **बारालाछाला** से चलकर ऊंचे पहाड़ों पर से गुजरती है, यहां लगभग मैदान में बह रही थी। **खोकसार** तो दो चार घरों का एक छोटा गांव है। यहां चाय की कुछ दुकानें हैं और चट्टानों में धंसा हुआ एक छोटा गोम्पा है। यह बताता है कि हम बौध सभ्यता के इलाके में आ पहुंचे हैं, लेकिन **सिस्सू** पहुंचकर हरेभरे खतों और बेंत और सफेदे के पेड़ों के बीच हमें बहुत अच्छा लगा।

सिस्सू में **जिफांग** देवता का मन्दिर है जो लाहौलियों का सबसे बड़ा देवता है। कहते हैं वह बहुत पुराने समय में **बारालाछा ला** के उस पार से आकर **जिफांग** पर्वत पर बस गया था। लाहौल में जौ, गेहूं, मटर, सरसों, और फाफड़ा की फसलों के बीज पहले-पहले **जिफांग** देवता अपने मुंह में भरकर, राक्षसों से छुपा कर यहां लाया था।

एक छोटा गोम्पा तो **सिस्सू** में भी है। मगर अगले दिन **गोदला** में जो गोम्पा देखा वह काफी बड़ा था। पर **लद्दाख** और **स्पिती** के गोंपाओं के मुकाबले यह गोम्पा तथा गुरूघंटाल, कार-दिंग, शासुर, तायुल और गेमूर, सभी गोम्पे बहुत छोटे हैं। गोम्पे के अंदर अंधेरे कमरे, एक कमरे में **महात्मा बुद्ध** और दूसरे महात्माओं और देवी देवताओं की मूर्तियों दीपों की मद्धिम रोशनी में ध्यान मग्न दीख रही थीं। **गोंदला** का आठ मंजिला मीनार सा किला लगभग 450 साल पुराना है और पत्थरों और शहती-रों का बना है। इसमें यहां के पुराने ठाकुरों के शस्त्र, बर्तन, लकड़ी के संदूक अभी भी रखे हैं। इस किले में भी एक सुन्दर गोम्पा है। यहां लकड़ी की खिड़कियों पर सुन्दर मूर्तियां खुदी हैं। यहां से 14 किलोमीटर पर **किलांग** लाहौल का बड़ा शहर

लामाओं का नृत्य-गैमूर गोम्पा

है। रास्ते में **तांडी** के स्थान पर **बारालाछाला** से निकल कर अलग-अलग दिशाओं से बहकर आई **चंद्रा** ओर **भागा** नदियों का संगम है। यहां के लोग **चंद्रा** को चांद की बेटी और **भागा** को सूर्य का बेटा कहते हैं, जो **बारालाछाला** पर आते हैं और एक दूसरे से शादी का वचन करके अलग-अलग दिशाओं में चले जाते हैं और फिर **ताडी** के स्थान पर आपस में शादी कर लेते हैं, इस स्थान से आगे नदी को **चंद्रा भागा** और कुछ और आगे जाने पर **चिनाब** के नाम से पुकारा जाता है।

खोकसार से **तांडी** तक का रास्ता बड़ा सुन्दर है। यहां हर तीन चार किलोमीटर पर चट्टानों के बीच बर्फ से ढकी चोटियां अपनी सुन्दरता से मन को मोह लेती हैं। **तांडी** से ऊपर लगभग डेढ घंटे की चढ़ाई चढ़कर बर्फ के पहाड़ों के साये में गुरूघंटाल

जिस्पा का एक दृश्य

गोम्पा है। यह गोम्पा बहुत पुराना है, पर अब इसकी हालत खस्ता है।

किलांग तो काफी बड़ा कस्बा है जहां के बाजार में दुकानें हर प्रकार की चीजों से भरी हैं और व्यापार अच्छा है। यहां के लोगों के खेत भी काफी बड़े हैं और फसलें अच्छी होती हैं। लोग समृद्ध हैं। यहां दो हाईस्कूल भी हैं जिनमें लड़के और लड़कियां अलग-अलग पढ़ते हैं। लाहौली बच्चे समझदार हैं। यहां मैं ऐसे कई लोगों से मिला जो भारत के कालेजों और विश्व-विद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करके लाहौल वापस आकर वहाँ की समृद्धि में अपना योगदान दे रहे थे।

लाहौल के पुराने लोगों में बहुपति प्रथा प्रचलित है, मगर नई पीढ़ी के शिक्षित बच्चे इस पुराने रिवाज को अब पसन्द नहीं करते और यह प्रथा अब लगभग समाप्त हो गई है। यहां के लोग धार्मिक विचारों वाले नेकदिल होने के साथ-साथ अंध-विश्वासी और भूत-प्रेतों को मानने वाले हैं। यहां के बंजर पहाड़, सुनसान घाटियां और भयोत्पादक वातावरण शायद इन बातों को बढ़ावा देते हैं। पर यह सब होते हुए भी यहां के लोग हंसमुख, खुशदिल, और मिलनसार हैं। लाहौल के लोग नाच और मेलों के शौकीन हैं। शीतकाल में जब लाहौल का सम्बन्ध बर्फ पड़ने के कारण शेष भारत और दुनियां से कट जाता है, तो छंग और मेले ही उनके मनोरंजन के साधन होते हैं। छंग यहां की देशी शराब जौ चावलों से बनती है। इसका नशा बड़ा हल्का होता है।

किलांग से ऊपर **शाशुर** गोम्पा काफी प्रसिद्ध है। नदी के पार किलांग से पांच किलोमीटर पर **कारदिंग** गोम्पा बहुत पुराना है। 200 साल पुराना यह गोम्पा टूट-फूट गया था। उसे लामा **नोर्बू** ने जो लाहौल में ज़ाना माना है लगभग पचास साल पहले दोबरा बनवाया था। इस गोम्पा में लामा नोंर्बू की अस्थियां चांदी के चार फुट ऊंचे चुर्थन में रखी हुई हैं। गोम्पा का लामा खेत में काम करने के बाद घर में खाना खा रहा था। खाना खाकर उसने मुझे गोम्पा दिखाया। और गोम्पाओं की तरह यहां भी प्रमुख मन्दिर एक अंधेरे बंद कमरे में था जहां महात्मा बुद्ध और कई अन्य देवी देवताओं की मूर्तियां रखी थीं। यहां लामाओं की प्रसिद्ध पुस्तक काग्यूर की 103 पोथियां और तंत्रकी कुछ किताबें हैं, जिनमें समाधि लगाने, बीमारियों के इलाज और टोने टोटकों के तरीके बता रखे हैं। मन्दिर के निचले कमरे में धुरी पर घूमने वाले बड़े और छोटे ढोल एक कतार में रखे हैं, जिनमें कागज पर लिख कर मंत्र रख दिए जाते हैं। इन ढोलों को घड़ी की सुईयों के चलने की दिशा में घुमाना पुण्य का काम माना जाता है।

लाहौल के गोम्पाओं में न तो महात्मा बुद्ध के जीवन के चित्र बनाने का रिवाज है और न थंकाओं के। जो थोड़े बहुत हैं वह घटिया और भद्दे हैं। यहां के लामा आमतौर पर अपनी खोपड़ी गोम्पाओं को दान कर देते हैं जिनको उनके मरने के बाद साफ करके कटोरों के काम लाया जाता है। लामा उनमें छंग पीते हैं। इसी प्रकार टांग की हड्डियों पर चांदी मढ़कर उसे गोम्पाओं में बजाने वाले बाजों में बदल दिया जाता है। इंसानी हड्डियों से बनी ये वस्तुएं बहुत मूल्यवान मानी जाती हैं।

जंकार नदी पर बर्फ का पुल

किलाँग से अगले गांव **गेमूर** में हमने वहां के गोम्पा में लाहौलवासियों का एक मेला देखा। मेला आरंभ होने से पहले बड़ी संख्या में मर्द औरतें और बच्चें गोम्पा के दालान में अपनी अपनी सुंदर वेषभूषा में पहुंच चुके थे। लामा लोग लाल चादरें औढ़े, लाल टोपियां पहने मूर्तियों वाले कमरे के बाहर एक ऊंचे स्थान पर पोथियां, डफ और खड़तालें लिए आ बैठे। बाजे बजाते, रंग- बिरंगे कपड़े पहने कुछ और लामा दालान में आए। इनमें कुछ पवित्र आत्माओं को दर्शाते थे और कुछ पापी आत्माओं को फिर दोनों दलों में लड़ाई हुई जिसके बाद पापी आत्माओं को खदेड़ दिया गया। बीच में यह नृत्य नाटिका रुक जाती तो छंग पीने चले जाते और गेहूं और जौ के भुने हुए कुर्मुरे दाने चबाते।

गेमूर और इस से आगे **जिस्पा** सुंदर गांव है जहां बड़े-बड़े चुर्थन, मणी पत्थरों की दीवारें और बेंत और सफेदे के पेड़ों के ऊपर से दीख रहे बर्फ के पहाड़ बहुत सुंदर लगते हैं। कुछ दूर जाने पर भागा, उची नाले और जंकार नाले का संगम है और चट्टानी पहाड़ों के उपर मुल्कीला नाम की प्रसिद्ध चोटी सिर उठाए खड़ी है। यहां दो छोटे गांव **सुमदो** और **दार्चा** हैं। हम सुमदो में वहां के प्राइमरी स्कूल के एक कमरे में ठहर गए। आगे दूर-दूर तक आबादी का नाम नहीं। केवल **पत्सियो**

मिट्टी की मूर्ति

नाम का एक गांव है जिसके बाद सड़क बारालाछा ला के उपर से होकर **जंस्कार** से गुजर कर लेह जा पहुंचती है।

हम **सुमदो** नदी पर जमी बर्फ के ऊपर से हो कर पहुंचे थे। मगर अब बर्फ में दरारें पड़ चुकी थीं। इसलिए वापसी के समय हमने जूते खोले और बर्फानी पानी की नदी में घुस गए। पानी तेज और बहावदार था और जब हम नदी पार करके दूसरे किनारे पर पहुंचे तो हमारी टांगें सुन्न हो चुकी थीं।

लाहौल में पंद्रह दिन घूमकर जब हम वापस **रोहतांग** पर आए तो बर्फ काफी पिघल चुकी थी। अब हम रह-रह कर भेड़ बकरियों के रेवड़ों में फंस जाते थे जिन्हें **कुल्लू** की गद्दी, **लाहौल** की चारागाहों में ले जाया जा रहा था। रोहतांग पर **व्यास कुंड,** जहां से व्यास नदी निकलती है, अब दिखाई दे रहा था और **जिफांग पर्वत** नीले आकाश के नीचे चमक रहा था। उधर बस मढ़ी तक आने लगी थी जहां एक ढाबे में खाना खाकर हम बस में बैठें और शाम तक मनाली जा पहुंचे।

एक लाहौली महिला

(पृष्ठ 44 का शेषांश)

करती ही रहती हैं, जिसके लिए वे प्रायः असमर्थ होते हैं।

इनकी कहानियों में प्रेम के प्रति संदेह दो पात्रों के बीच किसी अपराधबोध और पश्चाताप के रूप में आता है, किंतु यह अपराधबोध और पश्चाताप रामकुमार के सिवा अन्यत्र दुर्लभ होने के कारण उनकी विशिष्टता के रूप में समादृत हुआ है। घरों से निकलते समय इनके पात्र बासीपन की अनुभूति और अजीब से अवसाद से घिरे होते हैं। लेखक जब कहानी के विभिन्न सूत्र जोड़ रहा होता है तो वे प्रायः खामोश रहते हैं और अंत में वेदना उभरती है, जो पात्र से गुजरती हुई सीधे पाठक पर असर करती है।

रामकुमार की कहानियों में सामाजिक यथार्थ की साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति हुई है—शहरों में पारिवारिक संबंध अब सामंती नहीं रहे और न पूरी तरह से बुर्जुवा ही, पारिवारिक सदस्यों में अव्यक्त तनाव इसलिए उभरता है, कि संबंधों की शर्तें परिभाषित नहीं हैं, किसे क्या करना है, क्या नहीं, एक दूसरे से कितनी आशा करनी चाहिए और पहल के लिए कितनी छूट है, कौन किसके प्रति कितना उत्तरदायी है। संक्षेप में ये कहानियां परिवार में व्यक्ति की हैसियत के बारे में है। तब भी यह बोध अस्पष्ट बना रहता है, क्योंकि यह पूरी तरह से आपकी क्रियाओं पर निर्भर करता है।

मध्यवर्गीय परिवार को चलाने के लिए अपर्याप्त आमदनी के कारण उपजी भावात्मक असमर्थता का चित्रण रामकुमार ने बार-बार किया है। सफेदपोश कामगारों के हृदय में बसी हुई विद्वेष भावना और उनकी संवेगहीन चुप्पी उनके आहत अहं को प्रस्तुत करती है।

यह पूरी तरह स्पष्ट है कि रामकुमार मध्यवर्गीय परिवार के चित्रण में संत्रास, तकलीफों, करुणा और इच्छाओं को रूपायित करते हैं। प्रेम के प्रति अपने संदेह को व्यक्त करते हैं। हर वयस्क संबंध में स्वार्थ की अभिव्यक्ति होती है जो उनकी चेतना में पहले से ही उपस्थित होता है। किसी भी वयस्क का एक काम उसके दूसरे काम के प्रति उत्तरदायी है और वह वयस्क सभी परीक्षाओं में फेल हो जाता है। यह रामकुमार की अस्तित्ववादी स्थिति है, जिसने उनके साहित्यिक यथार्थवाद का निर्माण किया है।

मनोवैज्ञानिकता ने जहां रामकुमार को मात्र प्रकृतिवादी होने से बचा लिया है, वहां अति वस्तुनिष्ठता ने उनकी कहानियों के आयाम को सीमित भी कर दिया है। यद्यपि इनकी कहानियों का केंद्र-बिंदु मनुष्य है, किंतु उसे पर्याप्त काल्पनिक विस्तार मिलना चाहिए था। अब अगर रामकुमार की कहानियां अपनी विशिष्ट पहचान नहीं बना पातीं तो मात्र इसलिए कि उनके निरीक्षण और संपर्क कुछ सीमित गुणों से आगे नहीं जाते। इसलिए वह एक साथ सुसंगत व्यक्तित्व और मानवीय स्थितियों की गत्यात्मक उलझनों को नहीं पकड़ पाते। इनके पात्रों का विषाद वास्तविक और मर्मस्पर्शी है, किंतु वे वैयक्तिकता से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र चेतना का विकास नही कर पाते और अविस्मरणीय पात्र हो पाने की स्थिति से वंचित रह जाते हैं, जो सतत् संघर्ष और परिस्थितियों की विशिष्ट शक्ति से प्राप्त होती है। फिर भी चित्रकार और लेखक, दोनों ही रूपों में रामकुमार की कला की संवेदना, सुग्राह्यता और ईमानदारी उन्हें विशिष्टता तो प्रदान करती ही है। ●

जीवन का ग्रंथ पढ़नेवाली अनपढ़ महिला

बहिणाई चौधरी

यदुनाथ थते

महाराष्ट्र के जलगांव नगर के नजदीक असोदे नामक एक छोटे गांव में बहिणाई का जन्म हुआ एक किसान के घर। बहिणाई अन्य दसों लड़कियों जैसी ही एक लड़की थी। तेरहवें वर्ष, उस समय की प्रथा के अनुसार, वह नथू चौधरी नामक एक किसान के लड़के से ब्याही गई। प्रकृति-क्रम से उसके बाल-बच्चे पैदा हुए। तीस वर्ष की थी तब पति का देहांत हो गया और वह विधवा हो गई। लेकिन वह अपना दुख रोती बैठी नहीं रही। जी-तोड़ मेहनत से काश्तकारी करके उसने बाल-बच्चों का भरन-पोषण किया। उनको शिक्षा-दीक्षा दी। इकहत्तर वर्ष की आयु पाकर वह इस संसार दुनिया से विदा हो गई।

केवल इतना ही होता तो उसके आस-पास वाले, उससे जिनका नाता-रिश्ता था उतने ही लोग उसे जानते और समय बीतने पर उसको धीरे-धीरे सब भूल भी जाते, लेकिन बहिणाई ने एक विलक्षण संवेदनशील मन पाया था। सारा जीवन ही मानो उससे संवाद करता था। जीवन संवाद में वह खोई-खोई सी रहती थी। अपने में ही गुनगुनाती रहती थी। कभी कोई उसके गुनगुनाने के बारे में पूछता तो वह कहती, "फूल जिस तरह महकता है, झरना जिस तरह कलकल करते बहता है, वैसे ही मैं, जब रहा नहीं जाता तब गुनगुनाती हूं।" जीवन की लय से वह प्रभावित थी। और शब्द स्वयमेव गीतों में ढल जाते थे। आस-पास के जीवन से निरंतर उसका संवाद चलता रहता था। ऐसा भाव जागृत जीवन कितना विलक्षण होगा ! जब शब्दों का साज शृंगार लिए वे भाव सगुण साकार बनकर सामने से निकलते तो देखते ही बनता ! उनमें अपना खुद का एक संगीत मिला होता था। प्रकृति के सभी विभ्रमों को प्रकट करने वाला स्वर्गीय संगीत !

आसपास की घटनाओं के नाद-निनाद उसके मन में एक नया रूपलावण्य लेकर निनादित होते थे। आमतौर पर तथाकथित पढ़े-लिखे लोग कागजों की लचीली दीवारों में अपने को बंद कर लेते हैं और मानते हैं कि दुनिया भर की जानकारी उन्होंने बटोर ली है। उनके लिए पुस्तकें दरवाजे नहीं, दीवारें बन जाती हैं। ऐसी दीवारें जो जीवन का दर्शन प्रत्यक्ष में करने नहीं देतीं। कागजों की इन लचीली दीवारों से टकराने पर भी दीवारें टूटती नहीं और फिर आदमी को एक परायापन घेर लेता है। अपनी ही दुनिया से बिछुड़े हुए ये लोग अपने ही सुनहरे कागजी महलों में आत्मरति में लीन हो जाते हैं। बहिणाई के पास यह परायापन कभी भी फटक नहीं सका।

जीवन ग्रंथ को पढ़कर बहिणाई ने जो पाया उसको देखकर हैरत होती है। जीवन की लय को लेकर शब्द जब प्रकट होता है तो कितना खूबसूरत होता है! बहिणाई के शब्द अपने प्यार से हमको जकड़ लेते हैं और हम भी उसके साथ गुनगुनाने लगते हैं। लौकिक अर्थ में अनगढ़ लगने वाले सुसंस्कृत मन में जब शब्द प्रकट होता है तब वह विलक्षण समनुयोगकारी होता है। जीवन के रण-क्षेत्र को लांघकर आने वाले शब्द ऐसा अर्थ लावण्य लेकर प्रकट होते है कि पढ़े लिखे लोग हतप्रभ रह जाते हैं। ये शब्द कोरी दलीलबाजी नहीं होते, जीवनाभिमुखता के कारण वे हृदय पर कब्जा कर लेते हैं। एक-एक शब्द पूरा व्यक्तित्व लेकर सामने प्रकट होता है।

अपने एक गीत में बहिणाई कहती है—

अरे भले आदमी, काले काले खेत में तुम अपने पसीने की गंगा बहाओ, तभी उस काले में से हरा जीवन फूट निकलेगा।

अरे भैया धरती की माया इतनी विपुल है कि दुनिया भर के पैर उसमें समा जाते हैं।

जुगनू से कभी कोई चूल्हा जलता नहीं और तालियां पीटने भर से भगवान किसी को मिलते नहीं।

जीवन के ग्रंथ को पढ़ते-पढ़ते जीवन की पहेली का उत्तर वह अनायास पाती है। वह कहती है—

जब ईमान और प्रामाणिकता,
पाप में डूब जाते हैं।
तब आदमी अपनी मेहनत से,
ताले चाभी बना लेता है।
लेकिन ताले चाभी अपने ही स्थान पर,
रह जाते हैं ओर तिजोरी टूट जाती है।
ओर तिजोरी टूटती है तो आदमी,
लोहे की जंजीरें बना लेता है।

नीति-नियमों की डींग हांकनेवालों को वह फटकारती है—

जिसका मन खुद आईना,
बनने जितना साफ है।
उसको पाप-पुण्य से मतलब क्या,
उसको तो सभी अपराध माफ है।

वह एक मूलभूत प्रश्न आदमी के सामने रखती है। वह पूछती है, अरे इंसान तू इंसान कब बनेगा।

अरे इंसान, इंसान तुम्हारा जीना है बेकार
तुमसे तो कई गुना अच्छा है घर का जानवर
अरे इंसान इंसान कब बनेगा तू इंसान
लोभ के कारण तुमने बनाया अपने को हैवान

अभी इंसान इंसान से इंसानियत का बर्ताव नहीं कर रहा है और फिर भी संस्कृति की शेखी बघारता फिरता है। इंसान की इंसानियत को न पहचानने वाला और भोले को ही भूल कर इंसान से प्यार न करने वाला, उसकी भलाई के लिए न तड़पनेवाला सुसंस्कृत कैसे? गांव के अस्पृश्यों के जीवन का चित्र उसने कितने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है—

देखो हरिजनों की बस्ती में
नाम के ही हैं घरबार
रहते हैं गलियां छानते
मुख से कहते हैं 'जोहार'
देखो हरिजनों की बस्ती में
मानव की क्या है रैना
पेट में जलती है आग
लेकिन चूल्हा कभी जले ना।

उसके इन शब्दों में युगों की व्याकुलता भरी पड़ी है।

योगी और बहू के बीच का एक संवाद उन्होंने लिख डाला है। योगी जीवन से अपने को अलग करता है और खटपट को ही ज्ञान मान लेता है लेकिन एक बहू उसकी बड़ाई को मिटा देती है—

योगी कहता है, "मैं तो इधर भगवान का ध्यान कर रहा हूं, लेकिन यह बहू उसमें बाधा डाल रही है। बहू तुम अब अपनी बकवास बंद करो। कब तक मायके की बड़ाई करोगी? मायका इतना प्यारा था तो ससुराल झक मारने क्यों चली आई?"

दुनिया की पहेली को सुलझाने के लिए दुनिया की तरफ पीठ फेरनेवाले योगी को जो हल नहीं सूझता वह हल बहू निकलवा देती है। वह योगी से कहती है, "ऐ योगी महाराज, मेरा कहना जरा ध्यान से सुनो। मां अपनी बेटी को मायके से विदा कर देती हैं इसलिए वह ससुराल आ जाती है। भगवान कहां है, भगवान कहां है, कहते हुए खाक छानते हो, अरे भैया वह तो हर जगह है और तिस पर जो बचा है वह मेरे मायके में जा समां गया है।"

जीवन और मरण के बारे में उन्होंने कहा है—
नहीं पूरा हुआ है अब तक
तेरा आना-जाना।
बीच में आए पड़ाव उसको
कहते जीना जीना।
आया सांस और गया जो सांस
यह है जीवन-तंतर।
और जीने-मरने के बीच
एक ही सांस का अंतर।
सुनो-सुनो ऐ जीव मेरे
पीड़ितों की कराह।
भुजा बढ़ाओ आगे अपनी
कर दो उसे सहाय।

संसार को कोसते हुए विरक्ति की चादर ओढ़ने वालों को वह संसार का रहस्य समझाती है। विरक्ति के नाम पर जीवन से मुख मोड़ कर पुस्तकों में अपने को बंद करने वालों से वह कहती हैं—

अरे संसार संसार
जैसा तवा चूल्हे पर
पहले हाथ को पटखे
रोटी मिलती है फिर
अरे संसार संसार
नहीं रोना और धोना
पगले है फूलहार
उसे मत कहना बोझिल

कवि कुलगुरु कलिदास से होड़ कर सके ऐसी कल्पना की उड़ानें बहिणाई की गीतों में हम देखते हैं। वह कहती है "हवा मुझे अपने मायके का संदेशा कानों में सुनाती है। मैंने वहां के कितने चक्कर काटे हैं, इसका हिसाब मेरा मन ही बता सकता है। मायके का रास्ता चलते-चलते तलुवों में फोड़े निकल आए हैं, लेकिन मायके का लगाव इतना जबरदस्त है कि पैर बिना शिकायत ही चलते रहते हैं। रास्ते में पत्थरों से पैर टकराए तो वे पत्थर ही मुझसे गुफ्तगू करने लगे, मायके की राह चलने लगी तो सरकने लगे। और मैना को मैंने देखा, उसने मुझे देखकर उड़ान लगाई और मेरे आने की खबर मायके वालों को मेरे वहां पहुंचने के पहले ही दे दी।'

मन के बारे में अपने एक गीत में बहिणाई कहती है, "मन ऐसा खिंचाव पैदा करता है कि मानो हरे-भरे खेत में कोई मवेशी घुसपैठ कर गया हो, वहां से उसे धकेलने की कितनी भी कोशिश करो, वह फिर उधर ही जाना चाहता है। मन ऐसा घुमक्कड़ है कि जहां देखो वहां उसको रास्ता मिल जाता है। जिस तरह हवा के कारण पानी पर तरंगे उठती है। वैसी उसकी दास्तान है। मन बड़ा ही जहरीला है और उसका तंत्र भी कुछ अजीब-सा है। उससे तो सांप-बिच्छू बेहतर है क्योंकि मंत्र के द्वारा उनके विष का शमन किया जा सकता है। मन तो पांख-पंखेरू जैसा है, उसके बारे में बताएं भी तो क्या बताएं ? अभी-अभी जमीन पर है, ऐसा कहे तो उतने में वह आसमान में पहुंच जाता है। हे प्रभु, तुमने मन को न जाने कैसा बनाया है, मानो तुमने जागते हुए ही कोई सपना देखा हो।"

बहिणाई संत **कबीर** और संत **तुकाराम** की पंक्ति में दाखिल हो सकती है और तिस पर भी उसकी अपनी निजी विशेषताएं हैं, जो उसको और चमका देती हैं। जीवन का ग्रंथ गहराई में जाकर पढ़नेवाली वह एक अद्वितीय अनपढ़ महिला थी।

गीत

गुल मोहर के छांह वाले दिन

आ गए फिर
गुलमुहर के छांह वाले दिन
अचानक आ गए !
सुर्खियों में
रंग रहे चेहरे
दहकते पलाशों की,
हरी शाखें
लचककर पूछतीं
उपलब्धि
पिछली तलाशों की;
समूची गंध को
उन्मुक्त करती बांह वाले दिन
अचानक आ गए !
वसंती सांझ के
प्रतिबिंब
तालों में उगे होंगे,
उतरती धूपका
हंसा अकेला उड़ गया होगा
कहीं मोती चुगे होंगे,
कसक बुनते हुए
सुकुमार अंतर्दाह वाले दिन
अचानक आ गए !

श्याम निर्मम

सती प्रथा-मानवता का कलंक

साधना भटनागर

आदिकाल से पुरातन और नूतन, अंधविश्वास और प्रगति का संघर्ष बराबर चलता ही रहा है और यह राजधानी में उस दिन भी रहा जब सौ महिलाओं ने एक जलूस का आयोजन किया, ये महिलाएं कुछ स्थानीय संस्थाओं से भी संबद्ध थीं। यह जलूस राजधानी में एक सती मंदिर की स्थापना के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया था। सुंदर लंहगों, रंग बिरंगी ओढ़नियों और झिलमिल करते आभूषणों से सजी ये महिलाएं हाथों में पूजा की थालियां और लोटे लिए परेड मैदान में एकत्र हुई। यह जलूस रानी सती सर्व संघ के सहयोग से निकला था। जब ये महिलाएं पूजा की तैयारी कर रही थीं तभी इसके विरोध में कुछ लोगों ने नारे लगाने आरंभ कर दिए और इस जलूस को आगे बढ़ने से रोकने लगे। उनका कहना था कि सती के नाम पर कोई मंदिर स्थापित करना फिर से उसी बर्बरतापूर्ण प्रथा को बढ़ावा देना है जो आज भी मानवता के लिए कलंक है।

यद्यपि जलूस में शामिल महिलाओं का कहना था कि वे आज के युग में सती प्रथा के विरुद्ध हैं किंतु जो महिलाएं सती हो चुकी हैं उनकी पूजा करना मात्र ही उनका उद्देश्य है। सती होने वाली नारियां, नारी रत्न, महान और पूजनीय थीं, ऐसा उनका विश्वास है।

कहा जाता है कि **झुंझुनू** के राजा, आज से आठ सौ वर्ष पूर्व मुगलों से लड़ाई करते हुए मारे गए थे इसलिए उनकी रानी भी उन्हीं के साथ सती हो गई थीं। राजस्थान में उस स्थान पर कई वर्षों से मेला लगता है और अब उस स्थान पर मंदिर बनवाने के लिए आठ लाख रु० में खरीद लिया गया है। उसी तरह का एक मंदिर दिल्ली में भी स्थापित करने की योजना थी। विरोधियों का कहना था कि ऐसी महिला की यादगार में मंदिर स्थापित करना—जो पति के साथ सती हो गई थी—और उसकी स्थापना के लिए जलूस निकालना इस सामाजिक कुरीति को बढ़ावा देना है।

अनेक महिला संघों ने, प्रधानमंत्री श्रीमती **इंदिरा गांधी** से अपील की कि पुलिस को इस प्रकार के जलूसों पर रोक लगा देनी चाहिए जो सती प्रथा जैसे कोढ़ को पनपने दे। कुछ महिला संसत्सदस्यों ने भी इसे गैर-कानूनी व वनुचित कदम बताया तथा नारी को जीवन से वंचित करने वाली एक कुरीति मानते हुए इसका विरोध किया।

संसद के दोनों सदनों में भी इस बात को लेकर काफी हंगामा हुआ। दहेज के मामले में युवतियों की हत्याएं तथा 'सती' जैसे मध्ययुगीन अमानवीय रिवाजों को पुनः आरंभ किए जाने के प्रयासों की समूचे विपक्ष ने एक स्वर से निंदा की। इस पर प्रधानमंत्री ने सती प्रथा को फिर से चलाने के प्रयासों की बहुत जोर देकर निंदा की और सदन को आश्वासन दिया कि सरकार ऐसा नहीं होने देगी। लोकसभा के अध्यक्ष श्री **बलराम जाखड़** ने भी इन प्रयासों की निंदा की। कुछ समय पूर्व राजस्थान में घटित सती कांड का स्मरण करते हुए **श्रीमती गांधी** ने कहा कि वहां अब एक मंदिर बनाने का प्रस्ताव है, मुझे विश्वास है कि उसे भी सदन के सदस्यों के सहयोग से रुकवाने में मदद मिलेगी। इस पर सभी सदस्यों ने हर्षध्वनि करते हुए अपना समर्थन दिया। केंद्रीय गृह राज्य मंत्री श्री **योगेंद्र मकवाना** ने भी राज्यसभा में कहा कि यह प्रथा जो न केवल महिलाओं के लिए बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए कलंक है, प्रचलित नहीं होने दी जाएगी।

यों तो हजारों वर्ष पुरानी सभ्यता और कई रीति-रिवाजों में काफी परिवर्तन आ चुका है किन्तु मरे हुए पति के साथ जिंदा जल जाने की क्रूर प्रथा पर कोई अंकुश नहीं लग सका है। आश्चर्य तो तब होता है जब आज भी ऐसी घटनाएं होती हैं, कुछ धर्म के डर से और कुछ जोर जबरदस्ती से। हजारों वर्ष पुरानी इस प्रथा का आज भी मौजूद रहना इस बात का प्रमाण है कि इस अमानवीय प्रथा को किस सीमा तक धार्मिक और पवित्र रूप दिया गया है।

सती होने का अर्थ पति के मूल शरीर के साथ जल जाना, या सहगामिनी होना, कब से आरंभ हुआ इसका कोई सपष्ट विवरण नहीं मिलता। इसका **शाब्दिक अर्थ** तो सत्य **का गमन करनेवाली, साध्वी, पतिव्रता ही है।** ऐसा माना जाता है कि यह प्रथा भारत में मिस्र से आई। वहां पर जब किसी धनी व्यक्ति की

मृत्यु होती भी तो उसके साथ उसका सारा साज सामान तथा स्त्रियां भी पृथ्वी में गाड़ दी जाती थीं ताकि वे कयामत के दिन की आसानी से प्रतीक्षा कर सकें। किंतु एक व्यक्ति के सुख के लिए बाकी सभी की बलि देना कितना बर्बर, कितना अनुचित तथा कितना अन्यायपूर्ण कदम था, संभवतः ऐसा करने वालों को इसकी कल्पना नहीं रही होगी। भारत में धर्म के नाम पर, या उसका डर दिखला कर आज भी न जाने कितने अत्याचार किए जाते हैं। सती प्रथा भी पत्नी को इसी प्रकार धर्मभीरु बनाकर आरंभ हुई। पुराणों में तो पति के साथ जलने की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि सती होने वाली स्त्री के जितने कदम चिता की ओर बढ़ते हैं उतने ही अश्वमेध यज्ञ करने का पुण्य उसे प्राप्त होता है तथा उतने ही कदम वह बैकुंठ धाम की ओर बढ़ जाती है।

रामायण और **महाभारत** में भी पति के साथ जल जाने के कुछ उदाहरण हैं। कहा जाता है कि मेघनाद की पत्नी सुलोचना उसके साथ ही जिंदा जल मरी थी। महाभारत के आदि पर्व में भी एक प्रसंग है जिसमें **पांडु** के मर जाने पर उसकी दूसरी पत्नी **माद्री** को सती होने से रोकते हुए **कुंती** कहती है कि वह बड़ी है अतः पतिव्रत धर्म का प्रधान फल उसे ही प्राप्त होना चाहिए ताकि वह सीधे स्वर्ग जा सके। इस अनदेखे, अनजाने स्वर्ग की कल्पना के मोह ने ही संभवतः सती प्रथा की जड़ों को और भी मजबूत बनाया है। इसका हज़ारों वर्ष पुराना इतिहास अपने पीछे अनेक धार्मिक आडंबरों एवं अमानवीय मान्यताओं को लिए है। हमारे देश में धर्म और नैतिकता के नाम पर भांति-भांति के अत्याचार होते रहे हैं यह भी उन्हीं की देन है।

इस प्रथा की उत्पत्ति इस मान्यता की प्रतीक है कि नारी सदैव **'भोग्या'** के रूप में ही प्रस्तुत की गई है और इसी कारण पति के साथ ही उसके अस्तित्व की समाप्ति हो जाती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी धर्म के नाम पर औरतों को जबरदस्ती जला डालने की बात को क्रूरता और अमानवीय कर्म नहीं तो और क्या कहा जाएगा ? पलसों गांव का **हरदेई कांड** भी उसी का एक जीता जागता उदाहरण है जब हरदेई नाम की एक महिला को उसके निकट के रिश्तेदारों ने जबरदस्ती जलने को बाध्य किया। भारतीय समाज में आरंभ से ही औरत की स्थिति एक अबला और आश्रिता की रही है। इसी कारण पति के बाद वह किसी अन्य के लिए भार न बन सके इसलिए भी इस प्रथा को प्रश्रय दिया गया। राजस्थान में जौहर भी सती प्रथा का एक रूप रहा है। दुश्मन के हाथों में पड़कर लाज गंवाने से अच्छा जल कर मर जाना ही वहां की नारियों का आदर्श रहा है। **जौहर तो प्रायः सामूहिक रूप से होता था और इसके लिए पति का पहले मर जाना आवश्यक नहीं था।** मध्ययुग में जब राजपूत लोग लड़ाई में मारे जाते थे तब राजपूतनियां अपने पति की चिता के साथ जल जाती थीं और इसे वह अपने वीर पति के प्रति प्रेम और भक्ति का प्रदर्शन समझती थीं। छोटी सी आयु में, पति के परलोक सिधार जाने पर शेष जीवन यों भी भार स्वरूप हो जाता था। बाद में तो राजपूतों ने इसे अपने सम्मान का ही प्रश्न बना लिया। **जिसके साथ जितनी अधिक स्त्रियां जल मरती थीं वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था।** केवल राजस्थान में ही नहीं भारत के अन्य भागों में भी इस प्रथा के उदाहरण मिलते हैं।

दक्षिण में तो एक राजा के मरने पर उसकी 1100 रानियों को जिंदा जला दिया गया था। पति की चिता में पत्नी को जला डालने का तरीका भी बड़ा ही क्रूर और अमानवीय होता था। **यदि कोई स्त्री जलती चिता से दर्द के कारण चीख चिल्ला कर बाहर भाग आती तो डंडों और तलवारो से ठेलकर उसे फिर उसी में समा जाने को बाध्य कर दिया जाता था।** जोर-जोर से ढोल नगाड़े बजाए जाते थे ताकि उस स्त्री की चीख-पुकार किसी को सुनाई न दे।

यों तो अकबर ने भी इस प्रथा को बंद करवाना चाहा परंतु उन्हें यही कहा जाता रहा कि इस देश के लोग धार्मिक प्रवृत्ति के हैं, यदि इनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाई गई तो आपके राज्य की स्थिति बिगड़ जाएगी। यही स्थिति अंग्रेजों के काल में भी थी। अज्ञानी और धर्म के नाम पर नारियों की बलि दी जाती रही। **सरकारी आंकड़ों के हिसाब से 19 वीं सदी के आरंभ में प्रति वर्ष लगभग दो हजार से अधिक स्त्रियां सती हो जाती थी। इसमें बंगाल प्रमुख रहा है।**

बंगाल में **राजा राम मोहन राय** ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने अपने परिवार की एक महिला को सती होते देखा था। बचपन में देखा धार्मिक आडंबर का वह दृश्य इतना अधिक भयावह एवं कष्टप्रद था कि उन्होंने इस प्रथा को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया। उन्हीं के प्रयासों से 1829 में **लार्ड विलियम बेन्टिंक** ने सती प्रथा को बंद करने का कानून बनाया। किंतु केवल कानून बना देने मात्र से कहीं कुरीतियों का नाश हुआ है ? और न ही ठीक ढंग से कभी इसे समूल नष्ट करने की

(शेष पृष्ठ 57 पर)

एशियाई खेल

ट्रैक एंड फील्ड

वम एशियाई खेल

एशियाई खे

शिशु हा

प्रतीक

वर्ष 1978 के शुरू में—8वें एशियाई खेलों के आरम्भ होने से लगभग 11 महीने पूर्व जब पाकिस्तान ने 8वें एशियाई खेलों के आयोजन में असमर्थता ज़ाहिर की तो कुछ लोगों ने कहा था कि एशियाई खेल अब नहीं होंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। थाइलैंड के नरेश भूमिपोल ने 11 महीने में वह मुश्किल कार्य कर दिखाया, जिसके लिए पूरी मानव जाति और विशेष रूप से एशिया वासी उन्हें हमेशा याद रखेंगे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि बैंकाक के लिए यह काम बिल्कुल कठिन नहीं था क्योंकि वहां दो बार पहले भी इन खेलों का आयोजन हो चुका था। सवाल मुश्किल या आसान का नहीं था। सवाल था 'एकता, मैत्री और भाईचारे' की भावना जीवित रखने का जिनके लिए इन खेलों का या फिर ओलंपिक खेलों का आयोजन किया गया था।

कुछ ऐसी ही स्थिति भारत के सामने आई। सरकार बदल जाने और प्रधान मंत्रियों के विचारों में मतभेद होने के कारण एक बार ऐसा लगने लगा था कि यह खेल फिर से बैंकाक में होंगे। लेकिन **श्रीमती इंदिरा गांधी** के फिर प्रधान मंत्री बनने के बाद उन्होंने अपने पिता शांतिदूत स्वर्गीय **पंडित जवाहरलाल नेहरू** के पदचिन्हों पर चलते हुए 9वें एशियाई खेलों को नई दिल्ली में ही आयोजित करने का निर्णय किया। शुरू की अड़चनों के बाद अब निर्माण कार्य तथा आयोजन संबंधी अन्य कार्य पूरे जोरों पर हैं।

अब जबकि अनिश्चितता की घड़ियां टल गई हैं और 9वें एशियाई खेलों का आयोजन नई दिल्ली में होना निश्चित है। खेलों के बारे में कुछ चर्चा कर लेना ठीक होगा।

खेल कोई भी हो – ओलम्पिक, राष्ट्रमंडलीय या एशियाई---दर्शकों की सबसे ज्यादा रुचि 'ट्रैक एंड फील्ड' प्रतियोगिताओं में होती है। इनमें से भी **'ट्रैक' प्रतियोगिताएं 'फील्ड' प्रतियोगिताओं से ज्यादा लोकप्रिय हैं।** इसका अंदाज आप इससे लगा सकते हैं कि मास्को ओलम्पिक खेलों में 'हाई जम्प'

● **अवतारसिंह सेठी**

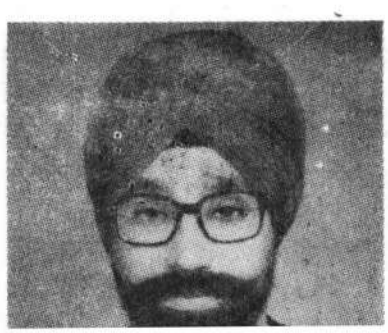

में नया रिकार्ड स्थापित करने वाले पूर्वी जर्मनी के **गर्ड वेसीन** की तुलना में **स्टीव ओवेट** और **मिरुत्स पिफतर** ज्यादा जाने माने हैं।

"ट्रैक' प्रतियोगिताओं की बात करते ही सबसे पहले जहन में **मिल्खासिंह** का नाम आता है जिन्होंने 1960 में पाकिस्तान में 200 मीटर रेस में विख्यात पाकिस्तानी धावक **अब्दुल खालिक** को हराकर **'फ्लाइंग सिख'** का खिताब पाया था। **मिल्खासिंह ने 6 सितंबर, 1960, रोम ओलंपिक खेलों में** 400 मीटर **दौड़ में 45.6 सैकिंड का जो रिकार्ड कायम किया था, वह आज तक कोई भी एशियाई खिलाड़ी तोड़ना तो दूर बराबर भी नहीं कर** पाया, हालांकि ओलंपिक तथा राष्ट्रमंडलीय खेलों में यह रिकार्ड टूट चुका है। राष्ट्रमंडलीय खेलों में 1970 में केन्या के **चार्ल्स असाती** ने यह दूरी 45 सैकिंड में पार की थी तथा ओलंपिक और विश्व रिकार्ड अमेरिका के **ली इवांस** के नाम पर है। **ली इवांस** ने 43.86 सै० का यह रिकार्ड 1968 में मैक्सिको ओलंपिक खेलों में कायम किया था।

1960 में ही मिल्खासिंह ने लाहौर में 200 मीटर दौड़ में 20.7 सैकिंड का रिकार्ड कायम किया था जो एशियाई खेलों में अभी तक नहीं टूट पाया। 21.1 सै० का रिकार्ड थाईलैंड के **अनात रतनपोल** के नाम है जो उन्होंने 1970 बैंकाक में हुए एशियाई खेलों में कायम किया था। वैसे 15 अक्टूबर, 1978 को कुमामोटो में जापान के **तोशियो टोपाटा** एक सैकिंड से यह रिकार्ड बेहतर कर चुके हैं। जबकि राष्ट्रमंडलीय खेलों का रिकार्ड (20.5 सै०) जमायका के **डोनाल्ड क्वारी** ने स्थापित किया था और 19.83 सै० का ओलंपिक तथा विश्व रिकार्ड 1968 मैक्सिको ओलंपिक खेलों में अमेरिका के **टोमी स्मिथ** ने कायम किया था।

मिल्खासिंह का भाग्य ने साथ नहीं दिया वरना 1960 में वह ओलंपिक स्वर्ण पदक जीत गए होते। कुछ वह भी गलती

कर बैठे। 400 मीटर की दौड़ में **पांचवी लेन** में भागते हुए वह 250 मीटर तक सबसे आगे रहे। यह सोचकर कि वह बहुत तेज भाग रहे हैं और कहीं अंत में मुश्किल न हो, मिल्खासिंह ने अपनी गति कम कर दी। इसका लाभ दूसरों ने उठाया और दो धावक इनसे आगे निकल गए। मिल्खासिंह ने एक अन्य धावक के साथ 400 मीटर पूरे किए लेकिन **फोटो फिनिश में वह चौथे स्थान पर रहे थे।**

20 वर्ष पहले प्रशिक्षण की सुविधाएं नहीं थी, मैदान भी ज्यादा अच्छे नहीं थे इसके बावजूद कोई भी एशियाई खिलाड़ी आज तक यह रिकार्ड नहीं तोड़ पाया। एक सच्चे खिलाड़ी की तरह मिल्खासिंह ने चुनौती दी है और प्रेरणा के रूप में 5,000 रुपये का इनाम घोषित किया है, उस **एशियाई धावक के** लिए जो इनके रिकार्ड को एशियाई खेलों (1982) या ओलंपिक खेलों (1984) में तोड़ेगा।

मिल्खासिंह के बाद **श्रीराम सिंह** और **शिवनाथ सिंह** ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। 800 मीटर का एशियाई रिकार्ड श्रीराम सिंह के नाम है। **श्रीराम सिंह** ने 1974 तेहरान में यह दूरी एक मिनिट 47.6 सैकिंड में पार कर यह रिकार्ड कायम किया था। **श्रीराम सिंह** अपने इस रिकार्ड के 25 जुलाई, 1976 को **मोंट्रियाल ओलंपिक** खेलों में सुधार चुके हैं। तब **श्रीरामसिंह ने 1 मिनट 45.77 सैकिंड समय लेकर सातवां स्थान प्राप्त किया था। श्रीराम सिंह** का यह सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन था। इसके पश्चात् उन्हें दमा हो गया जिसके पश्चात् पिछले वर्ष अजमेर ओपेन मीटर में उनका समय 1 मिनट 49 सैकिंड था।

5,000 मीटर में **शिवनाथ सिंह** ने 1974 तेहरान एशियाई खेलों में 14 मिनट 20.6 सैकिंड का रिकार्ड कायम किया था जो 1978 में कोई तोड़ नहीं पाया।

10,000 मीटर के **बादशाह हरीचन्द** का 29 मिनट 12 सैकिंड का रिकार्ड कोई नहीं तोड़ पाया। खुद हरीचन्द भी बीमारी के कारण अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन दोहरा नहीं पाए।

जहां एक ओर आयोजक 9वें एशियाई खेलों के बन्दोबस्त में लगे हुए हैं भारतीय धावकों को भी अभी से तैयारी में जुट जाना होगा ताकि भारत ज्यादा से ज्यादा पदक बटोर सके।

प्रतिभाशाली धावकों की हमारे देश में कमी नहीं। पंजाब, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु तथा केरल के कई धावकों ने काफी नाम कमाया है।

200 मीटर में तमिलनाडु के 25 वर्षीय पुलिसमैन **पी० सुब्रामण्यम** और **बनन शेखरन** से बहुत आशाएं बंधती हैं। **सुब्रामण्यम** 200 मीटर रेस 21.2 सै० में दौड़ चुके हैं। **शेखरन** ने बैंकाक में स्वर्ण पदक जीता था।

100 मीटर में आदिल **सुमारीवाला** और **शेखरन भारत** के सर्वश्रेष्ठ धावक हैं।

400 मीटर में प्रभु, 800 मीटर में **श्रीराम सिंह**, 5,000 तथा 10,000 मीटर में **शिवनाथ सिंह** और **हरीचन्द** के नाम उल्लेखनीय हैं।

20 किलोमीटर **वाक** में **रणजीत सिंह** और **हाकम सिंह** का नाम जहन में आता है। **हाकम सिंह** ने 1978 बैंकाक एशियाई खेलों में 1 घंटा 31 मिनट 54.4 सैकिंड का रिकार्ड कायम किया था।

'शाट पट' में पूरे एशिया में अभी भी **बहादुर सिंह** का जवाब नहीं है।

महिलाओं में भी कुछ एथलीट हैं जिन पर हम पदक के लिए निर्भर कर सकते। **भीलवाड़ा की स्कूली छात्रा रेखा जैन** ने अजमेर में 3,000 मीटर रेस 10 मिनट 23 सैकिंड में दौड़कर सनसनी फैला दी थी। रेखा को सही प्रशिक्षण की जरूरत है। 100 मीटर में **पी० टी० ऊषा**, 800 मीटर में **गीता जुत्शी** और 400 मीटर में **रीता सेन** और पांच खेल में **एंजल मेरी जोसेफ** से पदक की उम्मीद की जा सकती है।

ट्रैक एंड फील्ड प्रतियोगिताओं में मुख्यतः भारत, जापान और चीन में पदकों के होड़ होने की संभावना है।

जापान के **तोशिओ टोमोटा** और **यासूहिरो हारडा** 200 मीटर में, **योशिहारु टीमोनागा** और **यासूहिरो हारडा** 400 मीटर में, **ताकाशी इशी** 1500 मीटर में, **थोशिआकी कमाटा** 5,000 मीटर और 10,000 मीटर में, **योशीफमी फूजीमोरी** 110 मीटर बाधा दौड़ में, **ताकाशी नागाओं** 400 मीटर बाधा दौड़, मिनोरु ओगावा हाई जंप में, **किमोटाका कावासाकी** डिस्कस थ्रो में प्रतिभाशाली एथलीट हैं। इसके अलावा 4 गुणा 100 मीटर तथा 4 गुणा 400 मीटर रिले में जापानी टीमें कड़ी प्रतिद्वंद्वी साबित हो सकती हैं।

चीन के प्रतिभाशाली एथलीटों में कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। 800 मीटर **ली क्यो चुन**, 5,000 मीटर में **सिएह पाओ चिआँग**, 3,000 मीटर स्टीपलचेस में **ली वेन लीआन**, ट्रिपल जंप में **साओ-चेन सिएन**, पोल वाल्ट में **चाँग चेंग**, शाट पट में **चाओ पाओल चिन**, डिस्कस थ्रो में **ली-वी नान** और हैमर थ्रो में **कुंग शाओ-मिंग।**

पौने दो वर्ष का समय काफी समय होता है। इस अर्से में कुछ नई प्रतिभाओं का सामने आना जरूरी है। पुरानी और नई सभी प्रतिभाशाली एथलीटों को यदि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भाग लेने का मौका मिल जाए तो सोने पर सुहागे वाली बात होगी। अच्छे धावकों के साथ भागने में प्रतिभा तो चमकती है, मनोबल तथा दम भी बढ़ता है। इसका उदाहरण है 1960 ओलंपिक खेलों की 400 मीटर दौड़। यदि मिल्खा सिंह इतना तेज न दौड़ते तो चार धावक विश्व रिकार्ड कायम न करते। **(शेष पृष्ठ 57 पर)**

आठवां अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह

□ विनोद

बर्फानी ठंढक के बीच नई दिल्ली में 3 जनवरी से 17 जनवरी तक आठवां अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव मनाया गया। फिल्म महोत्सव का आयोजन फिल्म विधा की रचनात्मक प्रगति और अच्छे फिल्मकारों की रचना दृष्टि से परिचित कराने के लिए किया जाता है। यदि किसी भी फिल्म महोत्सव में हमें दस-बारह अच्छी फिल्में देखने को मिल जाती हैं तो फिल्म महोत्सव सार्थक कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर आठवां फिल्म महोत्सव सार्थक ही कहा जाएगा क्योंकि इसमें हमें **फैलीनी** (इटली) की दो फिल्में, **इंगमार वर्गमैन** (स्वीडन), **कुरोसावा (जापान), आंद्रे तारको वेस्की (रूस), फ्रांसिस फोर्ड कपोला (अमेरिका), सोल्तान फाबरी (हंगरी)** जैसे विश्व प्रसिद्ध फिल्मकारों की फिल्में देखने को मिलीं। वियतनाम युद्ध की पृष्ठ भूमि पर बनाई गई फिल्म **'एकाकिल्पस-नाऊ'** फ्रांसिस फोर्ड कपोला की अत्यन्त महत्वाकांक्षी फिल्म है। इस फिल्म को बनाने में पांच वर्ष और 31 लाख डालर खर्च किए हैं। हेलीकाप्टरों के गुच्छों की आपस में लड़ाई, नापाम बम के आक्रमण आदि का अत्यन्त चाक्षुष और भव्य चित्रण इस फिल्म में हुआ है।

आंद्रे तारकोवेस्की के बिम्ब फैलीनी और वर्गमैन की तरह ही मोहित करने वाले होते हैं। तारकोवेस्की की फिल्म **'स्टाकर'** में तीन व्यक्ति हैं—स्टाकर (मार्ग निर्देशक), लेखक और एक भौतिक शास्त्री। ये तीनों व्यक्ति एक ऐसे क्षेत्र की यात्रा पर जाते हैं जहां फूल खिलते हैं लेकिन उनमें सुगंध नहीं होती। यह फिल्म कई स्तरों पर चलती हुई जीवन और कला का अद्भुत समंन्वय प्रस्तुत करती करती है।

इस फिल्म महोत्सव में **इंगमार वर्गमैन** की अत्यन्त चर्चित फिल्म **'आटम सोनाटा'** का दिखाया जाना भी महत्वपूर्ण है। इस फिल्म में मां और बेटी के जटिल रिश्ते को बेहद संवेदनशील ढंग से फिल्माया गया है। मां और बेटी के इस रिश्ते में हमें तर्क और कारण देखने को नहीं मिलते। प्यार, घृणा, और हीन भावना के बीच डोलती हुई ये दो औरतें एक दूसरे के अंतर्मन को टटोलती हैं। वे आपस में सच्ची-झूठी बातें कहती हैं। आशा और निराशा के भंवर में घूमती हुई वे एक मानवीय जिंदगी जीती हैं। विश्व के प्रमुख फिल्म उत्पादक राष्ट्रों के अलावा तीसरी दुनिया के कई देश इस समारोह में शामिल हुए। बहरीन, कोलांबिया, मिस्र, ईरान घाना, हांगकांग, इंडोनेशिया, सीरिया के अलावा पड़ोसी देश पाकिस्तान, श्रीलंका और बांगला देश से भी फिल्में समारोह में आईं।

भारतीय फिल्मों की झांकी में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की 21 नई फिल्में दिखाई गईं। भारतीय फिल्म खंड में सत्यजित राय, **मणिकौल, मृणाल सेन' तरुण मजूमदार, तपन सिन्हा** जैसे, प्रतिष्ठित फिल्मकारों के अलावा सईद मिर्जा (अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है) **विप्लव राव चौधरी** (शोध), **जब्बार पटेल** (सिंहासन), **गोविन्द निहलानी** (आक्रोश), **सई पराजपे** (स्पर्श) जैसे कुछ युवा निर्देशकों की अच्छी फिल्में भी महोत्सव में देखने को मिलीं। पिछले कई वर्षों से दक्षिण भाषाओं की फिल्में महोत्सव में छाई रहती थीं लेकिन इस बार हिंदी फिल्में संख्या और गुणवत्ता में उनसे आगे बढ़ गईं। महोत्सव में दिखाई जाने वाली भारतीय फिल्में अपनी जमीन से जुड़ी हुई दिखाई दीं। अधिकांश भारतीय फिल्में हमारे यहां की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विसंगतियों को अत्यंत तीखे और चाक्षुष शब्द के जरिये उद्घाटित करती हैं। प्रसिद्ध फिल्मकार **मृणाल सेन** के फिल्म निर्माण की रजत जयंती के अवसर पर उनकी प्रमुख 17 फिल्में भारतीय पेनोरमा के अंतर्गत दिखाई गईं।

बल्गेरियाई फिल्म **'अननोन सोल्जर्स पेटेंट लैदर शूज'** निर्देशक **रांगेल (बुल्शानोव)** और भारतीय फिल्म **'आक्रोश' (निर्देशक गोविंद निहलानी)** को सम्मिलित रूप से स्वर्ण मयूर दिया गया। **वेनेशियन लाइज (निर्देशक स्तीफानो रोल्ला)** को सर्वश्रेष्ठ निर्देशक और **सोल्तान फाबरी** (हंगरी) की फिल्म **बार्लिन फाबियन की ईश्वर से मुलाकात** के अभिनेता **गाबोर कोनेस** को सर्वश्रेष्ठ अभिनय के लिए पुरस्कत किया गया। **अफ्रीकी घड़े में बनाया गया प्यार** को जूरी का **विशेष पुरस्कार मिला। बेंरबार फोड़की** की फिल्म **'परिवर्तन का एक काल'** को लघु फिल्म का स्वर्ण मयूर और **मणि कौल** की लघु फिल्म **'आगमन'** को सर्वश्रेष्ठ निर्देशन के लिए रजत मयूर दिया गया। सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री की हकदार 'दसबीना' अभिनेत्री **एंजेला मोलीन** हुईं।

इस महोत्सव के अवसर पर 9, 10, और 11 जनवरी को राष्ट्रीय जन संचार माध्यम संस्थान के तत्वावधान में विज्ञान भवन में 'नवें दशक में सिनेमा' शीर्षक से एक परिसंवाद भी आयोजित किया गया। इस परिसंवाद के तीन मुख्य विषय थे—सामाजिक तथा सांस्कृतिक चुनौतियां, यंत्रविधि : संभावनाएं

और सीमाएं तथा सिनेमा और टेलीविजन। इस परिसंवाद में सामाजिक यथार्थ के चित्रण में सेंसर प्रणाली के प्रतिबंधों में कुछ और अधिक छूट के संबंध में अधिक चर्चा हुई। परिसंवाद में **बी० के० करंजिया**, कूबा के फिल्कार **मातूएल खोमेस**, फ्रांसिसी फिल्मकार **तावर्नीए**, स्पेन के जूरी सदस्य हुआ। बारदेम, लंदन फिल्म महोत्सव के निर्देशक केन ब्लाशिन आदि ने भाग लिया।

इस फिल्म महोत्सव में दिखाई गई कुछ चुनी फिल्मों की समीक्षा संक्षिप्त रूप से दी जा रही है। **कागे मुशा (जापान) कुरोसावा** की फिल्म में युद्ध को महाकाव्यात्मक स्तर पर फिल्माया गया है। इस फिल्म का कथानक 16वीं शताब्दी के दो जापानी लड़ाकू राजवंशों के इर्द-गिर्द घूमता है। राजवंश का मुखिया आखिरी सांस ले रहा है और निर्णय करता है कि उसकी मृत्यु की खबर कम से कम तीन वर्ष से पहले न फैले।

एक चोर को जिसका चेहरा मुखिया से मिलता-जुलता है, को मृत्युदंड से छुटकारा दिया जाता है और वह मुखिया की भूमिका निभाने लगता है। वह किसी न किसी प्रकार सभी को धोखा दे देता है लेकिन आखिर में मुखिया का घोड़ा उसके पोल को खोल देता है।

कुरोसावा की युद्ध की व्यूह रचना, घोड़ों का युद्ध आदि दृश्य मन बांध लेने वाले हैं। इस फिल्म में युद्धरत सैनिकों की मानसिक उथल-पुथल का अत्यन्त संवेदनशील चित्रण मिलता है।

पुरस्कार प्रदान करते हुए सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री साठे

नौकर शाह की मौत (कूबा): **तोमास आलीआ** की यह फिल्म कापका के 'ट्रायल' उपन्यास की तरह रहस्यपूर्ण ढंग से खुलती है। इस फिल्म में अफसर शाही की भ्रष्ट व्यवस्था पर बहुत ही तीखा व्यंग्य किया गया है। एक कर्त्तव्यपरायण कारखाने के अफसर की मृत्यु होती है। उसका 'वेजेस कार्ड' भी कब्र में दफना दिया जाता हैं। 'वेजेस कार्ड' के बिना उसकी विधवा पत्नी को पेंशन नहीं मिल पाती है। कब्र खोदने के लिए सरकारी आदेश लेने के लिए मृत अफसर का भतीजा कार्यालय के हर अफसर के पास जाता है लेकिन कोई भी अफसर जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता। परेशान होकर एक सरकारी अधिकारी की सलाह से भतीजा कब्र को खोदकर कार्ड प्राप्त करता है लेकिन अब मुर्दे को गाड़ने की समस्या आती है क्योंकि कब्र को खोदने के लिए कार्यालय से अनुमति नहीं मिली थी इसलिए मुर्दे को गाड़ने की भी स्वीकृति नहीं दी जा सकती। ऐसे कई मार्मिक प्रसंगों के जरिए अफसरशाही को इस फिल्म में बेनकाब किया गया है।

तोमास आलीआ की दूसरी फिल्म **'द लास्ट सपर'** 18 वीं शताब्दी के एक धनिक और काले दासों के बीच एक ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर फिल्माई गई है। इस फिल्म में धनिक वर्ग की क्रूरता पूर्ण चालों और काले दासों की करुण गाथा को पर्दे पर उतारा गया है।

आक्रोश :(गोविंद निहलानी) : इस फिल्म को महोत्सव का स्वर्ण मयूर प्राप्त हुआ है। इस फिल्म की कथा एक आदिवासी परिवार के इर्द-गिर्द घूमती है। फिल्म के नायक (ओमपुरी) की पत्नी को कुछ आर्थिक लोभ देकर जंगल के ठेकेदार अपने बंगले पर बुलाते हैं और अपने सफेदपोश मित्रों के साथ उसके साथ बलात्कार करते हैं। नायक को अपनी पत्नी की हत्या के जुर्म में कचहरी में मुकदमा चलाया जाता है। नायक के मुकदमे की पैरवी एक युवा वकील (नसीरुद्दीन शाह) करते हैं लेकिन उन्हें नायक के पक्ष में कोई सबूत नहीं मिलता। नायक से भी वकील हर संभव तरीके से पूछने की कोशिश करता है लेकिन उसकी चुप्पी नहीं टूटती। वकील को एक नक्सलवादी की सहायता से इस घटना के अपराधियों का पता लगता है लेकिन वह इसके विरोध में कोई भी प्रमाण नहीं जुटा पाता। इसी बीच नायक के पिता की मृत्यु हो जाती है जिसके दाहसंस्कार के लिए उसे पुलिस संरक्षण में लाया जाता है। दाहसंस्कार करते समय उसका गूंगा आक्रोश मुखरित होता है और वह झपटकर कुल्हाड़ी से अपनी युवा बहिन की हत्या कर देता है ताकि वह सफेदपोश लोगों के बलात्कार से बच सके।

गोविंद निहलानी यदि इस फिल्म का संपादन और अच्छे ढंग से कर पाते तो निश्चित रूप से यह क्लासिक फिल्म बन जाती।

अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है (सईद मिर्जा) इस फिल्म में एक ईसाई परिवार के जरिए समकालीन भारतीय

जीवन के ह्रासो-मुखी मूल्यों को अत्यन्त कलात्मक ढंग से दर्शाया गया है। इस ईसाई परिवार का एक सदस्य अल्बर्ट पिंटो जो एक गैराज में मेकैनिक है, अपनी जिन्दगी से जुड़ी कई घटनाओं के औचित्य को खोजता है और जब उसे कोई उचित उत्तर नहीं मिलता तो उसे गुस्सा आता है। यह फिल्म कथा फिल्मों की परम्परागत लीक से हट कर है। इसमें छोटी-छोटी घटनाओं की सहायता से आज की सामाजिक विसंगतियों को दिखाया गया है। इस फिल्म को देखते हुए हमेशा ऐसा लगता है जैसे आप सो रहे हों और कोई चिकोरी काट कर जगा रहा है। इस फिल्म के कई प्रसंग अत्यंत प्रभावशाली हैं मसलन अल्बर्ट पिंटों की अपनी महिला दोस्त स्टैला की स्कर्ट पहनने की आलोचना करना, लंगड़ी बहन से एक ग्राहक की बातचीत इत्यादि।

एशियाई खेल पृष्ठ 54 का शेष

लोधी रोड पर तैयार हो रहे इंडोर स्टेडियम में सभी ट्रैक एंड फील्ड प्रतियोगिताएं होंगी। अफसोस इस बात का रहेगा कि यह स्टेडियम इस वर्ष तैयार न हो सकेगा। यदि ऐसा हो पाता तो इस वर्ष राष्ट्रीय खेलों का आयोजन इस स्टेडियम में करने से खिलाड़ियों को यकीनन लाभ पहुंचता।

खैर, अब उस दिन का इंतजार सभी बेताबी से कर रहे हैं जब सभी कार्य पूरे होंगे और 9वें एशियाई खेलों का प्रतीक नाचता, झूमता गजराज एशिया के खिलाड़ियों और अधिकारियों का नई दिल्ली में स्वागत करेगा। नये राष्ट्रीय स्टेडियम में शान्ति के प्रतीक सफेद कबूतर छोड़े जाएंगे और खेलों का उद्घाटन होगा।

सती प्रथा (पृष्ठ 52 का शेष)

कोशिश ही की गई है। जब भी कभी ऐसी कोई घटना होती है पुलिस को पहले से ही सूचना मिल जाने के बाद भी कुछ नहीं होता। न केवल पुलिस वरन आम जनता और पढ़े लिखे लोग भी वहां तमाशा देखने के लिए एकत्र हो जाते हैं। अपनी धार्मिक मान्यताओं और सड़े गले अंधविश्वासों के कारण कानून के रक्षक भी उसके भक्षक बन जाते हैं। पलसों गांव में पुलिसे की उदासीनता के कारण ही 19 अगस्त, 1980 को हरदेई को जल जाना पड़ा। 16 अगस्त को उसके पति की मृत्यु हुई। घर वालों के तानों के कारण ही वह जलती चिता पर जा बैठी, पर उसे गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में सारे गांव में जानकारी होते हुए भी कि 19 अगस्त को वह सती होगी, पुलिस ने उसकी कोई सहायता नहीं की और घरवालों से घबराकर उसे आत्मदाह करना पड़ा। केवल हरदेई नहीं **नीमड़ी कोठरियां गांव** में सोहन कंवर, **गोलावाना**/सीकर/में सावित्री, **गोनपुरा**/नीम का थाना/ में नेह कुंवर और ऐसी ही कई महिलाओं ने पिछले दो-तीन साल में ही आत्मदाह किया।

आखिर औरतें क्यों जलती हैं ? यह एक प्रश्न सामने आता है। क्या वह वास्तव में ही जलना चाहती हैं ? मैं समझती हूं कि यह केवल भावावेश की स्थिति में ही संभव है। जबकि घरवालों के ताने पड़ते हों, उसकी जिम्मेदारी संभालने वाला कोई और न हो अथवा पति से अत्यधिक प्रेम हो। भारतीय परिवारों में जन्म से ही कन्या को पति को देवता मानने की शिक्षा दी जाती है, चाहे वह कैसा भी हो। प्रेम करे या दुर्व्यवहार तब भी वह देवता ही रहता है। इसीलिए लड़की के दिमाग में यह बात गहरी पैठ जाती है कि पति के संसार से उठते ही उसका भी जीवन समाप्त हो जाता है। किसी अर्थ तक यह ठीक भी हो तब भी क्या उस नारी का कर्तव्य अपने पति की छोड़ी जिम्मेदारियों को निभाना और जो मानव जीवन बड़ी कठिनाई से मिला है उसे जीना नहीं है। यदि क्षणिक भावावेश में उसकी सोचने समझने की शक्ति समाप्त भी हो जाती है तब भी क्या निकट संबंधियों या समाज का यह कर्तव्य नहीं है कि उसे उचित-अनुचित का भेद समझाएं और तमाशबीन बनने की बजाय उसकी अन्य प्रकार से सहायता करें। औरत न तो केवल प्रयोग में लाए जाने वाली वस्तु मात्र है कि उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं, व्यक्तित्व ही नहीं एवं उसे पति के साथ ही जिंदा रहने का अधिकार है, बाद में नहीं। न जाने कब तक यह अनाचार और धर्म के नाम पर यह अत्याचार चलेगा, जितनी शीघ्र यह प्रथा वास्तव में समाप्त हो उतना ही अच्छा होगा।

(पृष्ठ 28 का शेष)

घटाए। मसलन कुंभ मेला है तो उसे आप करीब-करीब एक फोटोग्राफिक ढंग से लिखें ! बस।

● मुझे लगता है यह जर्नलिज्म का काम है। निर्मल वर्मा का कुंभ मेला पर लिखा एक लेख याद पड़ता है। शायद आपने भी पढ़ा हो। इस संदर्भ में वह आपको कैसा लगा ?

साहित्य का काम रचनात्मक ढंग से लिखना है। विश्लेषित करना नहीं है। यदि आप विश्लेषित ही करना चाहते है तो दृष्टिकोण का प्रश्न उठता है। निर्मल वर्मा का कुंभ मेला वाला लेख पढ़ने के दौरान भी मैंने यही महसूस किया था कि यह तो वह है जो निर्मल वर्मा देखते हैं, दरअसल भारत में जो कुंभ मेला है—वह नहीं है यह। यही सारी दिक्कत है।

पुस्तक समीक्षा

राकेट विज्ञापन-साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि

जयप्रकाश भारती

अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी विश्व में आधुनिकतम है। प्रसन्नता की बात है कि युवा अंतरिक्ष वैज्ञानिक **शिवप्रसाद कोस्टा** ने मूल रूप से हिन्दी में तीन पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों की हिन्दी जगत में भरपूर चर्चा होनी चाहिए थी। भारत का प्रथम उपग्रह **आर्यभट्** जब छोड़ा गया तो उसकी चारों ओर खासी धूम मची किंतु "आर्यभट्' परियोजना से जुड़े प्रमुख वैज्ञानिक कोस्टा ने "आर्यभट्" पर सरस और रोचक शैली में पुस्तक लिखी तो वह चर्चित नहीं हुई। केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने उस पुस्तक को प्रकाशित तो किया, लेकिन वह पुस्तक बाजार में कहीं भी देखने में नहीं आई। कोस्टा ने ही दूसरे उपग्रह पर भारतीय उपग्रह : **भास्कर** (प्रकाशक : विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली-2) पुस्तक लिखी।

शिवप्रसाद कोस्टा की तीसरी पुस्तक भारतीय राकेट **एस० एल० वी०-3** का विमोचन प्रधानमंत्री **श्रीमती इंदिरा गांधी** ने किया। पुस्तक की भूमिका में श्रीमती गांधी ने लिखा है—"प्राचीन काल में देवता अंतरिक्ष का भ्रमण करते थे। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के लिए भी अंतरिक्ष यात्रा संभव बना दी है। हमारे वैज्ञानिकों ने अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है और देश की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। कुछ दिन पहले, भारत में निर्मित **रोहिणी** का प्रक्षेपण एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। इससे सारा राष्ट्र रोमांचित हुआ। लेकिन विज्ञान की प्रगति के बारे में जनता को अधिक से अधिक जानकारी मिलनी चाहिए। सरल-सुबोध भाषा में लिखी यह पुस्तक टीपू सुल्तान से एस० एल० वी० राकेट तक का इतिहास प्रस्तुत करती है।"

पुस्तक के पांच खंड हैं— 1. इतिहास के अध्याय में भारतीय राकेट; 2. राकेट का तकनीकी कलेवर; 3. प्रायोगिक उपग्रह प्रक्षेपक राकेट; 4. अंतरिक्ष अड्डा श्री हरिकोट; 5. कबीले के खेमें से सुनी-सुनाई। अनेक स्कैच और चित्र भी पुस्तक में दिए गए हैं। अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी अत्यंत जटिल विषय है किंतु वैज्ञानिक कोस्टा उसी में रचे-बसे हुए हैं। भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम से अनेक वर्षों से वह जुड़े हैं—चाहे **आर्यभट्** अथवा **रोहिणी** का डिजाइन बनाना हो या उसका प्रक्षेपण। उन्होंने पूरी पुस्तक को किस्सागोई के अंदाज में लिखा है। लगता है, वह पाठक को अपने साथ-साथ घुमा रहे हों—और कहां किस तरह राकेट बनता है—यह दिखा रहे हों। उनके इस सरस वर्णन में उड़ान तो है, साथ ही वैज्ञानिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ कहीं नहीं, तथ्य और आंकड़ों की भूलें भी नहीं हैं।

भारतीय राकेट कार्यक्रम के जन्मदाता **डा० विक्रम साराभाई** कहा करते थे—**"युवकों के हौसले पर ही तो मैंने भारत में राकेटों की क्रांति लाने की ठानी है।"**

भारत जैसे गरीब देश के लिए अंतरिक्ष कार्यक्रम या राकेट प्रक्षेपण की कई क्षेत्रों में आलोचना की जाती है किंतु यह कोरी प्रतिष्ठा बढ़ाने का कार्यक्रम नहीं है, उपग्रहों के निर्माण एवं विकास से हमारे कोटि-कोटि देशवासियों का कल्याण और उनकी प्रगति का सीधा संबंध है। इसीलिए आम पाठक तक इसकी जानकारी पहुंचनी चाहिए और उसी की भाषा में विवरण होना चाहिए। इस पुस्तक के लेखक स्वयं अधिकारी वैज्ञानिक तो हैं ही, उन्होंने अनेक वैज्ञानिकों से साक्षात्कार करके, विचार-विमर्श करके पुस्तक लिखी है। राकेट निर्माण और उड़ान से जुड़ी विविध समस्याएं और परियोजना के सभी पक्षों पर कोस्टा ने उपयोगी जानकारी दी है। यह पुस्तक हिंदी के विज्ञान साहित्य की विशेष उपलब्धि मानी जाएगी।

पुस्तक के अंत में वैज्ञानिक शब्दों के अंग्रेजी समानार्थक शब्दों की सूची भी दी गई है। भारतीय राकेट (एस०एल०वी०) तथा **रोहिणी** उपग्रह का प्रामाणिक विवरण देने वाली इस पुस्तक का अच्छा स्वागत होगा।

भारतीय राकेट एस०एल०वी० 3 : लेखक—डा० शिवप्रसाद कोस्टा। प्रकाशक—विद्या प्रकाशन मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली-2

शोहदों की राजनीति

मनोहर लाल मैत्रेय

"आधी रात के अतिथि"—सुप्रसिद्ध उपन्यासकार मन्मथ नाथ गुप्त का यथार्थवादी शैली में लिखा हुआ एक सुन्दर उपन्यास है। विगत कुछ वर्षों की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर, लेखक ने इसमें राजनैतिक और सामाजिक जीवन केन्द्र के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। इसमें आधुनिक राजनीति का घिनौना चित्र तो प्रस्तुत किया ही गया है, इसके साथ यह भी बताया गया है कि प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का साम्राज्य छाया हुआ है। ऐसी

स्थिति में व्यक्ति का दम घुट सा रहा है। उसने अपने को इतना उत्पीड़ित और विवश कभी महसूस नहीं किया था, जितना कि आज।

"आधी रात के अतिथि" यह नाम रखकर, लेखक ने यह दिखाना चाहा है कि हमारा वर्तमान और भविष्य अंधकारमय है और हम उस काली भयानक रात्रि में लड़खड़ाते हुए चल रहे हैं। लेखक ने यह स्वयं लिखा है—"आज की राजनीति शहीदों की राजनीति न होकर शोहदों की राजनीति हो गई है"। लेकिन इसके साथ ही लेखक ने आशा की किरण अवश्य दिखाई है कि लोकमानस अवश्य सचेत है। अतः चिंता की बात नहीं हैं।

लेखक का उद्देश्य तो ठीक है परंतु कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि उसने पूर्वाग्रह से काम लिया है। इसीलिए कहीं-कहीं किए गए व्यक्तिगत आक्षेप अखरते अवश्य हैं।

वह संदेश वाहक न होकर उपदेशक प्रतीत होता है।

छपाई और गेट-अप सुन्दर है, पर मूल्य अधिक है। ऐसी स्थिति में यह पुस्तक पुस्तकालयों की शोभा ही बढ़ा सकती है।

आधी रात के अतिथि (उपन्यास) मन्मथ नाथ गुप्त 30 रुपये 297 लिपि प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली।

विकास की स्पष्ट दिशा

□ **आनंद प्रकाश**

अपनी संपूर्णता में यह कहानी-संग्रह ऐसी रचनाधर्मिता को उजागर करता है जो अपने सामाजिक परिवेश में उद्देश्य और सार्थकता की खोज कर रही है। एक संवेदनशील मस्तिष्क की पीड़ा उभारते हुए ये कहानियां पाठक को कितनी ही सामाजिक विसंगतियों से परिचित कराती हैं। सामायिक परिवेश के दबाव इतने अधिक है कि उसमें स्वस्थ तथा नैतिक मानसिकता का विकास असंभव जान पड़ता है।

प्रस्तुत संग्रह को पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि **पंकज विष्ट** की वे कहानियां अधिक प्रभाव पैदा करती हैं जहां शोषित व्यक्तियों की पीड़ा का वर्णन मिलता है। अपनी प्रारंभिक कहानियों के बाद **बिष्ट** स्वयं इसी दिशा में बढ़ते नजर आते हैं। उन्हें स्वयं यह महसूस होता है कि व्यवस्था में पलने वाले व्यक्तियों के प्रति कटुता व्यक्त करना तो उचित है लेकिन मात्र उनके चित्रण से यथार्थ की समूची गहराई में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

यह सही है कि इन कहानियों में अनेक स्थलों पर लेखक की प्रतिक्रिया पर्याप्त विवेकपूर्ण और विश्लेषणात्मक न होकर भावुकतापूर्ण ही रहती है, लेकिन सामाजिक यथार्थ के नकारात्मक और सकारात्मक पक्षों की स्पष्ट पहचान स्थापित करने के कारण यह भावुक दृष्टिकोण भी पाठक में सही मूल्यों के प्रति उन्मुखता पैदा करता है।

पंकज विष्ट अभी चूंकि अपना विशिष्ट लेखकीय स्वर विकसित कर रहे हैं, इसलिए उन्हें निरंतर उन रचना-बिंदुओं के प्रति आलोचकीय दृष्टिकोण अपनाना होगा, जिन्हें वे सकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त करना चाहते हैं।

'पंद्रह जमा पच्चीस'

पंकज बिष्ट; तक्षशिला प्रकाशन; मूल्य : अठारह रुपये।

करोड़ों अंत्यजों को समर्पित

—**विशाल त्रिपाठी**

"शबरी" **श्री धनंजय अवस्थी** का भारतीय संस्कृति के उदात्त शाश्वत मूल्यों तथा नए युग-बोध पर आधारित एक खण्डकाव्य है जो वर्णभेद से जर्जरित राष्ट्र में नव चेतना का संचार कर भावात्मक एकता का मार्ग प्रशस्त करता है। कथानक में उत्तर तथा दक्षिण भारत में प्रचलित कथाओं का सम्मिश्रण इसे सार्वदेशिकता प्रदान करता है। कवि ने अपनी कृति कोटि-कोटि अंत्यजों, अछूतों को समर्पित की है।

खण्डकाव्य के सर्गों के नाम उद्भावना, क्रान्ति, संघर्ष, चेतना, आस्था, साधना, बोध तथा सिद्धि हैं जो शबरी की जीवन-यात्रा के पड़ाव कहे जा सकते हैं। कवि ने काव्य में मुक्त छंद का प्रयोग किया है। कृति में मुक्त छंद में लिखी जाने वाली अधिकांश नई कविता, अकविता तथा विचार कविता की दुरुहता एवं बोझिलता का सर्वथा अभाव है। सर्वत्र सरलता, सरसता तथा संगीतात्मकता पाठक को रसमग्न रखती है।

काव्य में तत्कालीन समाज का सफल चित्रण है जिसमें एक ओर त्याग, अपरिग्रह तथा परोपकार की भावना तथा दूसरी ओर पशुबलि, रूढ़िगत विचार, औपचारिक शिक्षा का अभाव, वर्णद्वेष तथा मदिरापान आदि के चित्र उभर कर आए हैं। शबरी गृह त्याग कर बहुत बड़ा जोखिम मोल लेती है। परंतु उसकी दृढ़चित्तता के आगे सफलता नतमस्तक होती है।

बिंब-योजना में भी कवि को अच्छी सफलता मिली है।

राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी ने पुस्तक की भूमिका में मतंग मुनि के संबोधन को सार्वकालिक, सार्वजनीन तथा सार्वदेशिक कहा है जो सर्वथा उचित है। राम का यह कथन—न. कोई जन्मना ऊंचा न नीचा है विभाजन कर्म रेखा।'

राम का यह कथन आज के वर्णभेद पीड़ित समाज के लिए प्रेरणास्रोत है। पुस्तक अत्यधिक उपयोगी तथा संग्रहणीय है। आश्रम के प्रसंग में वर्णित वृक्षों, पुष्पों, लताओं, पक्षियों आदि का वर्णन परंपरागत ही है जिसमें स्थान विशेष का है। वर्तनी संबंधी कुछ भूलें है पर वे नगण्य हैं।

शबरी (खण्ड काव्य) कवि : श्री धनंजय अवस्थी; प्रकाशक : संगम प्रकाशन, 183, शहरारा बाग, इलाहाबाद-3; पृष्ठ संख्या : 112, मूल्य : बारह रुपए।

अपने पहले बच्चे से उसका अधिकार मत छीनिए

दो बच्चों के जन्म में तीन साल का अंतर रखिए।

बच्चे के मानसिक व शारीरिक विकास में शुरू के तीन साल बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। उसे आपके लाड़ प्यार की जरूरत होती है। यह आप तभी कर सकती हैं जब आप पर उससे छोटे बच्चे की जिम्मेदारी न हो। इसलिए कम से कम तीन साल का अंतर अवश्य रखिए।

उपाय ये रहे: निरोध, खाने की गोलियां या लूप

अधिक जानकारी के लिए समीप के स्वास्थ्य केन्द्र से सम्पर्क करें।

पहले बच्चे का अधिकार तीन साल तक पूरा प्यार

davp 80/245

हमारी महत्वपूर्ण हिंदी पत्रिकाएं

बालभारती (मासिक)

मनोरंजक कहानियां, कविताएं, ज्ञानवर्द्धक सामयिक लेख, आकर्षक बहुरंगे चित्र, व्यंगय विनोद, पहेलियाँ, पुस्तक चर्चा तथा प्रसिद्ध लेखकों, खिलाड़ियों, कलाकारों तथा प्रतिभाशाली बच्चों के साथ विशेष भेंट इस पत्रिका की विशेषताएं हैं ।

एक प्रति	1.20 रुपये
वार्षिक	12.00 रुपये
द्विवार्षिक	21.00 रुपये
त्रिवार्षिक	30.00 रुपये

योजना (पाक्षिक)

योजना नए भारत के नवनिर्माण की सचित्र पाक्षिक पत्रिका है । यह समूचे भारत की वार्षिक सामाजिक सांस्कृतिक क्रान्ति की सही तस्वीर पेश करती है ।

एक प्रति	1.00 रुपये
वार्षिक	20.00 रुपये
द्विवार्षिक	35.00 रुपये
त्रिवार्षिक	50.00 रुपये

कुरुक्षेत्र (मासिक)

इस पत्रिका में देश को खुशहाली के आधार ग्राम विकास सहकारिता और पंचायती राज के बारे में सारगर्भित और रूचिपूर्ण लेख, कहानियां, रूपक तथा समाचार आदि सरल और सुबोध भाषा में प्रकाशित होते हैं ।

एक प्रति	1.00 रुपये
वार्षिक	10.00 रुपये
द्विवार्षिक	18.00 रुपये
त्रिवार्षिक	25.00 रुपये

भगीरथ (त्रैमासिक)

यह ऐसी पत्रिका है जो देश में जल बांधों, सिंचाई और विद्युत परियोजनाओं व बाढ़ नियंत्रण संबंधी कार्यो की प्रगति और अनुसंधान की पूर्ण सही आधुनिकतम जानकारी देती है ।

एक प्रति	1.50 रुपये
वार्षिक	5.00 रुपये
द्विवार्षिक	9.00 रुपये
त्रिवार्षिक	12.00 रुपये

विशेष छूट

- विद्यार्थियों, अध्यापकों (विद्यालय से प्रमाण-पत्र देने पर) एवं पुस्तकालयों को पत्रिकाओं के चंदे पर 10 प्रतिशत की विशेष छूट ।
- हमारी पत्रिकाओं के ग्राहकों को हमारी पांच रुपये या अधिक मूल्य की पुस्तकें क्रय करने पर 20 प्रतिशत की छूट । परन्तु यह छूट गांधी वाङ्मय तथा महात्मा (डी० जी० तेन्दुलकर) के सैटो पर उपलब्ध नहीं है ।

आज ही लिखें

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
भारत सरकार
पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001

आगामी अंक

- बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य एवं क्षेम चंद सुमन से बातचीत
  लोक साहित्य पर परिचर्चा–विजयेंद्र स्नातक, हिमांशु जोशी, हरीश नवल
- पंजाबी, राजस्थानी, हिमाचली, मगही, अवधी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी
  भोजपुरी, ब्रज, गुजराती एवं मराठी लोक साहित्य पर विशिष्ट लेख
- योगेंद्रनाथ शर्मा अरुण, चक्रधर शर्मा तथा शंकर भट्ट की कहानियां
- सामाजिक क्रांति के जनक—महात्मा फुले
- कोटा चित्रोपशैली में रसिक प्रिया

लोक साहित्य

मधु चितवन